अनेकान्त

ज्येष्ठ, संवत् २००५ :: जून, सन् १९४८

संस्थापक-प्रवर्तक
वीरसेवामन्दिर, सरसावा

वर्ष ९ ★ किरण ६

सञ्चालक-व्यवस्थापक
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

★

सम्पादक-मंडल

जुगलकिशोर मुख्तार
प्रधान सम्पादक
मुनि कान्तिसागर
दरबारीलाल न्यायाचार्य
अयोध्याप्रसाद गोयलीय
डालमियानगर (बिहार)

★

सुखका उपाय

(आर्या)

जगके पदार्थ सारे वर्तें इच्छाऽनुकूल जो तेरी ।
तो तुझको सुख होवे, पर ऐसा हो नहीं सकता ॥ १ ॥
क्योंकि, परिणमन उनका शाश्वत उनके अधीन ही रहता ।
जो निज अधीन चाहे वह व्याकुल व्यर्थ होता है ॥ २ ॥
इससे उपाय सुखका, सच्चा, स्वाधीन-वृत्ति है अपनी ।
राग-द्वेष-विहीना, क्षणमें सब दुःख हरती जो ॥ ३ ॥

—युगवीर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
१	बुढ़ापा (कविता)—[कवि भूधरदास	२१३
२	षडावश्यक-विचार—[प्र० सम्पादक	२१४
३	समन्तभद्र भारतीके कुछ नमूने, युक्त्यनुशासन—[सम्पादकय	२१५
४	अहिंसा-तत्त्व—[क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य	२१९
५	पूज्य वर्णी गणेशप्रसादजीके हृदयोद्गार—[पं० दरबारीलाल कोठिया	२२१
६	रावण-पार्श्वनाथकी अवस्थिति—[अगरचन्द नाहटा	२२२
७	वीरशासन-जयन्तीका पावन पर्व—[पं० दरबारीलालजी कोठिया	२२३
८	शृंगेरिकी पार्श्वनाथ-वस्तीका शिलालेख—[बा० कामताप्रसाद जैन	२२४
९	जैनपुरातन अवशेष (विहङ्गावलोकन)—[मुनि कान्तिसागर	२२५
१०	सम्पादकीय—[अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२४१
११	युगके चरण अलख चिर-चञ्चल (कविता)—['तन्मय' बुखारिया	२४४

वीर-शासन-जयन्तीका वार्षिकोत्सव-समारोह

मुरार [ग्वालियर] में

सम्पूर्ण जैन समाजको यह जानकर बड़ी प्रसन्नता होगी कि श्रावण कृष्णा प्रतिपदाकी इतिहास प्रसिद्ध पुण्य-तिथिसे सम्बद्ध भारतीय पावनपर्व 'वीर-शासन-जयन्ती' का—भगवान महावीरके सर्वोदय-तीर्थ-प्रवर्तन-दिवसका—वीरसेवामन्दिर द्वारा आयोजित वार्षिकोत्सव इस वर्ष मुरार (ग्वालियर) में पूज्य क्षुल्लक श्रीगणेशप्रसादजी वर्णी (न्यायाचार्य) की अध्यक्षतामें श्रावण कृष्णा प्रतिपदा व द्वितीया तारीख २२–२३ जुलाई सन् १९४८ को बृहस्पतिवार तथा शुक्रवारके दिन विशेष समारोहके साथ मनाया जायगा। उत्सवकी तैयारियाँ बड़े उत्साहके साथ प्रारम्भ होगई हैं।

इस बार वर्णीजीकी इच्छानुसार विश्वकी शान्ति और समुन्नतिको लक्ष्यमें रखकर वीर-शासनके प्रचार और प्रसारादि सम्बन्धी अच्छा ठोस एवं स्थायी कार्य किया जानेको है।

समाजके लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों, श्रीमानों तथा शासन-सेवाके कार्योंमें रस लेने वाले सभी सज्जनोंके पधारनेकी पूर्ण आशा है। वर्णीजी जैसे सन्त पुरुषके नेतृत्वमें मनाया जाने वाला यह उत्सव अपनी खास विशेषता रखता है। अतः सर्वसज्जनोंसे सानुरोध निवेदन है कि आप इस शुभ अवसरपर अवश्य ही मित्रों सहित पधारनेकी कृपा करें और अपने इस सर्वातिशायी पावन पर्वको यथेष्ट रूपमें मनानेके लिये अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करते हुए इस संस्थाको आभारी बनायें। उत्सवमें अपने पधारनेके समयादिकी सूचना—'संयोजक स्वागतकारिणी कमेटी, ठि० सेठ गुलाबचन्द गणेशीलालजी जैनका बगीचा पोस्ट मुरार (ग्वालियर)' के पतेपर देनी चाहिए, जिससे समयपर ठहरने आदिकी सब योग्य व्यवस्था हो सके।

निवेदक—

सरसावा
५-७-४८

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता, वीरसेवामन्दिर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ अर्हम्

वार्षिक मूल्य ५)

एक किरणका मूल्य ।)

वर्ष ९ किरण ६	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जिला सहारनपुर ज्येष्ठ शुक्ल, वीरनिर्वाण-संवत २४७४, विक्रम-संवत् २००५	जून १९४८

बुढ़ापा

बालपनै बाल रह्यो पीछे गृहभार बह्यो, लोकलाज-काज बांध्यो पापनको ढेर है ।
अपनो अकाज कीनों लोकनमें जस लीनों, परभौ विसार दीनों विषै वश जेर है ॥
ऐसे ही गई विहाय अलप-सी रही आय, नर-परजाय यह आँधेकी बटेर है ।
आये सेत भैया ! अब काल है अवैया, अहो ! जानी रे सयाने तेरे अजौं हूँ अँधेर है ॥१॥

बालपनै न सँभार सक्यो कछु, जानत नाहिं हिताऽहित ही को ।
यौवन वैस वसी वनिता उर, कै नित राग रह्यो लछमीको ॥
यों पन दोइ विगोइ दये नर, डारत क्यों नरकै निज-जीको ।
आये हैं सेत अजौं शठ ! चेत, "गई सुगई अब राख रहीको" ॥२॥

सार नर देह सब कारजको जोग येह, यह तो विख्यात बात वेदनमें बँचै है ।
तामें तरुनाई धर्म-सेवनको समै भाई, सेये तब विषै जैसे माखी मधु रचै है ॥
मोह-महामद-भोये धन-रामा-हित रोज रोये, यों ही दिन खोये खाय कोदों जिम मचै है ।
अरे सुन बौरे ! अब आये सीस धौरे, अजौं सावधान हो रे नर नरकसों बचै है ॥३॥

—कवि भूधरदास

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

षडावश्यक-विचार

[यह ग्रन्थ भी कैराना जिला मुज़फ्फरनगरके बड़े मन्दिरकी उसी षट्पत्रात्मक ग्रन्थ-प्रतिपरसे उपलब्ध हुआ है जिसपरसे गत किरणमें प्रकाशित 'परमात्मराज-स्तोत्र' और उससे पहलेकी किरणोंमें प्रकाशित 'स्वरूप-भावना' और 'रावण-पार्श्वनाथ-स्तोत्र' उपलब्ध हुए थे और जिन सबको २० जनवरी सन् १९३३को नोट किया गया था। यह नव पद्योंका एक प्रकरण-ग्रन्थ है, जिनमेंसे पहले पद्यमें छह आवश्यकोंके १ सामायिक, २ स्तव, ३ वन्दना, ४ प्रतिक्रमण, ५ प्रत्याख्यान और ६ कायोत्सर्ग नाम देकर लिखा है कि इन क्रियाओंमें जो जीव वर्तमान होता है उसके संवर होता है—कर्मोंका आत्मामें आना-बंधना रुकता है। इसके बाद छह पद्योंमें छहों आवश्यकोंका आध्यात्मिक दृष्टिसे अच्छा सुन्दर स्वरूप दिया है, जो सहज-बोध-गम्य है। आठवें पद्यमें बतलाया है कि 'निजात्मतत्त्वमें अवस्थित हुआ जो योगी निरालस्य होकर (पूर्ण तत्परताके साथ) इस प्रकारसे षडावश्यक करता है उसके पापोंकी रोक होती है—पापास्रव रुकता है। अन्तके ९वें पद्यमें उन चिह्नोंका निर्देश किया है जो ठीक अर्थमें षडावश्यक करने वालोंमें प्रकट होते हैं और वे हैं १ कालक्रमसे उदासीनता, २ उपशान्तता और ३ सरलता। मालूम नहीं इस प्रकरणके रचयिता कौन महानुभाव हैं। जिन विद्वानोंको इस विषयमें कुछ मालूम हो उन्हें उसको प्रकट करना चाहिए। —सम्पादक]

सामायिके[1] स्तवे[2] भक्त्या वन्दनायां[3] प्रतिक्रमे[4] ।
प्रत्याख्याने[5] तनूत्सर्गे[6] वर्तमानस्य संवरः ॥ १ ॥

यत्सर्व-द्रव्य-सन्दर्भ-रागद्वेष-व्यपोहनम् ।
आत्म-तत्त्व-निविष्टस्य तत्सामायिकमुच्यते ॥ २ ॥

रत्नत्रयमयं शुद्धं चेतनं चेतनात्मकम् ।
विविक्तं स्तुवतो नित्यं स्तवज्ञैः स्तूयते स्तवः ॥ ३ ॥

पवित्र-दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयमुत्तमम् ।
आत्मानं वन्दमानस्य वन्दनाऽकथि कोविदैः ॥ ४ ॥

कृतानां कर्मणां पूर्वं सर्वेषां पाकमीयुषाम् ।
आत्मीयत्व-परित्यागः प्रतिक्रमणमुच्यते ॥ ५ ॥

अगम्यागो-निमित्तानां भावानां प्रतिषेधनम् ।
प्रत्याख्यानं समादिष्टं विविक्ताऽऽत्माऽवलोकिभिः ॥ ६ ॥

ज्ञात्वा योऽचेतनं कायं नश्वरं कर्म-निर्मितम् ।
न तस्य वर्तते कार्ये कायोत्सर्गं करोति सः ॥ ७ ॥

यः षडावश्यकं योगी स्वात्म-तत्त्व-व्यवस्थितः ।
अनालस्यः करोत्येवं संवृतिस्तस्य रेफसाम् ॥ ८ ॥

कालक्रमव्युदासित्वमुपशान्तत्वमार्जवम् ।
विज्ञेयानीति चिह्नानि षडावश्यककारिणाम् ॥ ९ ॥

नवपद्यानि षडावश्यक विचारस्य।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समन्तभद्र भारतीके कुछ नमूने
युक्त्यनुशासन

सामान्य-निष्ठा विविधा विशेषाः पदं विशेषान्तर-पक्षपाति ।
अन्तर्विशेषान्तर-वृत्तितोऽन्यत्समानभावं नयते विशेषम् ॥४०

'(७वीं कारिकामें 'अभेद-भेदात्मकमर्थतत्त्वं' इस वाक्यके द्वारा यह बतलाया गया है कि वीरशासनमें वस्तुतत्त्वको सामान्य-विशेषात्मक माना गया है, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि जो विशेष हैं वे सामान्यमें निष्ठ (परिसमाप्त) हैं या सामान्य विशेषोंमें निष्ठ है अथवा सामान्य और विशेष दोनों परस्परमें निष्ठ हैं ? इसका उत्तर इतना ही है कि) जो विविध विशेष हैं वे सब सामान्यनिष्ठ हैं—अर्थात् एक द्रव्यमें रहने वाले क्रमभावी और सहभावीके भेद-प्रभेदको लिये हुये जो परिस्पन्द और अपरिस्पन्दरूप नाना प्रकारके पर्याय[1] हैं वे सब एक द्रव्यनिष्ठ होनेसे ऊर्ध्वता-सामान्य[2]में परिसमाप्त हैं । और इस लिये विशेषोंमें निष्ठ सामान्य नहीं है; क्योंकि तब किसी विशेष (पर्याय) के अभाव होनेपर सामान्य (द्रव्य) के भी अभावका प्रसङ्ग आयेगा, जो प्रत्यक्षविरुद्ध है—किसी भी विशेषके नष्ट होनेपर सामान्यका अभाव नहीं होता, उसकी दूसरे विशेषों—पर्यायोंमें उपलब्धि देखी जाती है और इससे सामान्यका सर्व विशेषोंमें निष्ठ होना भी बाधित पड़ता है । फलतः दोनोंको निरपेक्ष रूपसे परस्परनिष्ठ मानना भी बाधित है, उसमें दोनोंका ही अभाव ठहरता है और वस्तु आकाश-कुसुमके समान अवस्तु होजाती है ।'

'(यदि विशेष सामान्यनिष्ठ हैं तो फिर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि वर्णसमूहरूप पद किसे प्राप्त करता है—विशेषको, सामान्यको, उभयको या अनुभयको अर्थात् इनमेंसे किसका बोधक या प्रकाशक होता है ? इसका समाधान यह है कि) पद जो कि विशेषान्तरका पक्षपाती होता है—द्रव्य, गुण, कर्म इन तीन प्रकारके विशेषोंमेंसे किसी एकमें प्रवर्तमान हुआ दूसरे विशेषोंको भी स्वीकार करता है, अस्वीकार करनेपर किसी एक विशेषमें भी उसकी प्रवृत्ति नहीं बनती—वह विशेषको प्राप्त कराता है अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्ममेंसे एकको प्रधानरूपसे प्राप्त कराता है तो दूसरेको गौणरूपसे । साथ ही विशेषान्तरोंके अन्तर्गत उसकी वृत्ति होनेसे दूसरे (जात्यात्मक) विशेषको सामान्यरूपमें भी प्राप्त कराता है—यह सामान्य तिर्यक्सामान्य होता है । इस तरह पद सामान्य और विशेष दोनोंको प्राप्त कराता है—एक को प्रधानरूपसे प्रकाशित करता है तो दूसरेको गौण रूपसे । विशेषकी अपेक्षा न रखता हुआ केवल सामान्य और सामान्यकी अपेक्षा न रखता हुआ केवल विशेष दोनों अप्रतीयमान होनेसे अवस्तु हैं, उन्हें पद प्रकाशित नहीं करता । फलतः परस्पर निरपेक्ष उभयको और अवस्तुभूत अनुभयको भी पद प्रकाशित नहीं करता । किन्तु इन सर्वथा सामान्य, सर्वथा विशेष, सर्वथा उभय और सर्वथाऽनुभयसे

१ क्रमभावी पर्यायें परिस्पन्दरूप है जैसे उत्क्षेपणादिक । सहभावी पर्यायें अपरिस्पन्दात्मक हैं और वे साधारण, साधारणाऽसाधारण और असाधारणके भेदसे तीन प्रकार हैं । सत्व-प्रमेयत्वादिक साधारण धर्म हैं, द्रव्यत्व-जीवत्वादि साधारणाऽसाधारण धर्म हैं और वे अर्थ पर्यायें असाधारण हैं जो द्रव्य द्रव्यके प्रति प्रभिद्यमान और प्रतिनियत हैं ।

२ सामान्य दो प्रकारका होता है—एक ऊर्ध्वतासामान्य दूसरा तिर्यक्सामान्य । क्रमभावी पर्यायोंमें एकत्वान्वय-ज्ञानके द्वारा ग्राह्य जो द्रव्य है वह ऊर्ध्वतासामान्य है और नाना द्रव्यों तथा पर्यायोंमें सादृश्यज्ञानके द्वारा ग्राह्य जो सदृशपरिणाम है वह तिर्यक् सामान्य है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विलक्षण सामान्य-विशेषरूप वस्तुको पद प्रधान और गौणभावसे प्रकाशित करता हुआ यथार्थताको प्राप्त होता है; क्योंकि ज्ञाताकी उस पदसे उसी प्रकारकी वस्तुमें प्रवृत्ति और प्राप्ति देखी जाती है, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी तरह ।'

यदेवकारोपहितं पदं तदस्वार्थतः स्वार्थमवच्छिनत्ति ।
पर्याय-सामान्य-विशेष-सर्वं पदार्थहानिश्च विरोधिवत्स्यात् ॥४१

'जो पद एवकारसे उपहित है—अवधारणार्थक 'एव' नामके निपातसे विशिष्ट है; जैसे 'जीव एव' (जीव ही)—वह अस्वार्थसे स्वार्थको (अजीवत्वसे जीवत्वको) [जैसे] अलग करता है— अस्वार्थ (अजीवत्व) का व्यवच्छेदक है—[वैसे] सब स्वार्थ-पर्यायों (सुख-ज्ञानादिक), सब स्वार्थसामान्यों (द्रव्यत्व चेतनत्वादि) और सब स्वार्थविशेषों (अभिधानाऽविषयभूत अनन्त अर्थपर्यायों) सभीको अलग करता है—उन सबका भी व्यच्छेदक है, अन्यथा उस एक पदसे ही उनका भी बोध होना चाहिये, उनके लिये अलग-अलग पदोंका प्रयोग (जैसे मैं सुखी हूं, ज्ञानी हूं, द्रव्य हूँ, चेतन हूँ, इत्यादि) व्यर्थ ठहरता है—और इससे (उन क्रमभावी धर्मों-पर्यायों, सहभावी धर्मों-सामान्यों तथा अनभिधेय धर्मों-अनन्त अर्थ-पर्यायोंका व्यवच्छेद—अभाव—होनेपर) पदार्थकी (जीव पदके अभिधेयरूप जीवत्वकी) भी हानि उसी प्रकार ठहरती है जिस प्रकार कि विरोधी (अजीवत्व) की हानि होती है—क्योंकि स्वपर्यायों आदिके अभावमें जीवादि कोई भी अलग वस्तु संभव नहीं हो सकती ।

(यदि यह कहा जाय कि एवकारसे विशिष्ट जीव पद अपने प्रतियोगी अजीव पदका ही व्यवच्छेदक होता है—अप्रतियोगी (स्वपर्यायों, सामान्यों तथा विशेषोंका नहीं; क्योंकि वे अप्रस्तुत–अविवक्षित होते हैं, तो ऐसा कहना एकान्तवादियोंके लिये ठीक नहीं है; क्योंकि इससे स्याद्वाद (अनेकान्तवाद)के अनुप्रवेशका प्रसङ्ग आता है, और इससे इनके एकान्त सिद्धान्तकी हानि ठहरती है ।)

अनुक्त-तुल्यं यदनेवकारं व्यावृत्यभावान्नियम-द्वयेऽपि ।
पर्यायभावेऽन्यतराप्रयोगस्तत्सर्वमन्यच्युतमात्म-हीनम् ॥४२॥

'जो पद एवकारसे रहित है वह अनुक्ततुल्य है—न कहे हुएके समान है—; क्योंकि उससे (कर्तृ-क्रिया विषयक) नियम-द्वयके इष्ट होनेपर भी व्यावृत्तिका अभाव होता है—निश्चयपूर्वक कोई एक बात न कहे जानेसे प्रतिपक्षकी निवृत्ति नहीं बन सकती—तथा (व्यावृत्तिका अभाव होने अथवा प्रतिपक्षकी निवृत्ति न हो सकनेसे) पदोंमें परस्पर पर्यायभाव ठहरता है, पर्यायभावके होनेपर परस्पर प्रतियोगी पदोंमें से भी चाहे जिस पदका कोई प्रयोग कर सकता है और चाहे जिस पदका प्रयोग होनेपर संपूर्ण अभि-धेयभूत वस्तुजात अन्यसे च्युत—प्रतियोगीसे रहित —होजाता है और जो प्रतियोगीसे रहित होता है वह आत्महीन होता है—अपने स्वरूपका प्रतिष्ठापक नहीं हो सकता । इस तरह भी पदार्थकी हानि ठहरती है ।'

व्याख्या—उदाहरणके तौरपर 'अस्ति जीवः' इस वाक्यमें 'अस्ति' और 'जीवः' ये दोनों पद एवकारसे रहित हैं । 'अस्ति' पदके साथ अवधारणार्थक 'एव' शब्दके न होनेसे नास्तित्वका व्यवच्छेद नहीं बनता और नास्तित्वका व्यवच्छेद न बन सकनेसे 'अस्ति' पदके द्वारा नास्तित्वका भी प्रतिपादन होता है, और इस लिये अस्ति पदके प्रयोगमें कोई विशेषता न रहनेसे वह अनुक्ततुल्य होजाता है । इसी तरह जीव पदके साथ 'एव' शब्दका प्रयोग न होनेसे अजीवत्व-का व्यवच्छेद नहीं बनता और अजीवत्वका व्यवच्छेद न बन सकनेसे जीव पदके द्वारा अजीवत्व-का भी प्रतिपादन होता है, और इस लिये 'जीव' पदके प्रयोगमें कोई विशेषता न रहनेसे वह अनुक्त-तुल्य होजाता है । और इस तरह अस्ति पदके द्वारा नास्तित्वका भी और नास्ति पदके द्वारा अस्तित्वका भी प्रतिपादन होनेसे तथा जीव पदके द्वारा अजीव अर्थका भी और अजीव पदके द्वारा जीव अर्थका भी प्रतिपादन होनेसे अस्ति-नास्ति पदोंमें तथा जीव-अजीव पदोंमें घट-कुट (कुम्भ) शब्दोंकी तरह परस्पर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर्यायभाव ठहरता है। पर्यायभाव होनेपर परस्पर प्रतियोगी पदोंमें भी सभी मानवोंके द्वारा, घट-कुट शब्दोंकी तरह, चाहे जिसका प्रयोग किया जा सकता है। और चाहे जिसका प्रयोग होनेपर संपूर्ण अभिधेयभूत वस्तुजात अन्य प्रतियोगीसे च्युत (रहित) होजाता है—अर्थात् अस्तित्व नास्तित्वसे सर्वथा रहित होजाता है और इससे सत्ताऽद्वैतका प्रसङ्ग आना है। नास्तित्वका सर्वथा अभाव होनेपर सत्ताऽद्वैत आत्महीन ठहरता है; क्योंकि पररूपके त्यागके अभावमें स्वरूप-ग्रहणकी उपपत्ति नहीं बन सकती—घटके अघटरूपके त्याग बिना अपने स्वरूपकी प्रतिष्ठा नहीं बन सकती। इसी तरह नास्तित्वके सर्वथा अस्तित्वरहित होनेपर शून्यवादका प्रसङ्ग आता है और अभाव भावके बिना बन नहीं सकता, इससे शून्य भी आत्महीन ही होजाता है। शून्यका स्वरूपसे भी अभाव होनेपर उसके पररूपका त्याग असंभव है—जैसे पटके स्वरूप ग्रहणके अभावमें शाश्वत अपटरूपके त्यागका असंभव है। क्योंकि वस्तुका वस्तुत्व स्वरूपके ग्रहण और पररूपके त्यागकी व्यवस्थापर ही निर्भर है। वस्तु ही पर द्रव्य-क्षेत्र कालकी अपेक्षा अवस्तु होजाती है। सकल स्वरूपसे शून्य जुदी कोई अवस्तु संभव ही नहीं है। अतः कोई भी वस्तु जो अपनी प्रतिपक्षभूत अवस्तुसे वर्जित है वह अपने आत्मस्वरूपको प्राप्त नहीं होती[1]।

'यदि (सत्ताद्वैतवादियों अथवा सर्वथा शून्यवादियोंकी मान्यतानुसार सर्वथा अभेदका आवलम्बन लेकर) यह कहा जाय कि पद—अस्ति या नास्ति—(अपने प्रतियोगि पदके साथ सर्वथा) अभेदी है—और इसलिये एक पदका अभिधेय अपने प्रतियोगि पदके अभिधेयसे च्युत न होनेके कारण वह आत्महीन नहीं है—तो यह कथन विरोधी है अथवा इससे उस पदका अभिधेय आत्महीन ही नहीं किन्तु विरोधी भी होजाता है; क्योंकि किसी भी विशेषका-भेदका—तब अस्तित्व बनता ही नहीं।'

व्याख्या—उदाहरणके तौरपर—जो सत्ताऽद्वैत-(भावैकान्त)वादी यह कहता है कि 'अस्ति' पदका अभिधेय अस्तित्व 'नास्ति' पदके अभिधेय नास्तित्वसे सर्वथा अभेदी (अभिन्न) है उसके मतमें पदों तथा अभिधेयोंका परस्पर विरोध भेदका कर्ता है; क्योंकि सत्ताऽद्वैत मतमें सम्पूर्ण विशेषों-भेदोंका अभाव होनेसे अभिधान और अभिधेयका विरोध है—दोनों घटित नहीं होसकते, दोनोंको स्वीकार करनेपर अद्वैतता नष्ट होती है और उससे सिद्धान्त-विरोध घटित होता हैं। इसपर यदि यह कहा जाय कि 'अनादि-अविद्याके वशसे भेदका सद्भाव है इससे दोष नहीं' तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि विद्या-अविद्या भेद भी तब बनते नहीं। उन्हें यदि माना जायगा तो द्वैतताका प्रसङ्ग आएगा और उससे सत्ताऽद्वैत सिद्धान्तकी हानि होगी—वह नहीं बन सकेगा। अथवा अस्तित्वसे नास्तित्व अभेदी है यह कथन केवल आत्महीन ही नहीं किन्तु विरोधी भी है (ऐसा 'च' शब्दके प्रयोगसे जाना जाता है); क्योंकि जब भेदका सर्वथा अभाव है तब अस्तित्व और नास्तित्व भेदोंका भी अभाव है। जो मनुष्य कहता है कि 'यह इससे अभेदी है' उसने उन दोनोंका कथंचित् भेद मान लिया, अन्यथा वह वचन बन नहीं सकता; क्योंकि कथंचित् (किसी प्रकारसे) भी भेदीके न होनेपर भेदीका प्रतिषेध—अभेदी कहना—विरुद्ध पड़ता है—कोई भेदी ही नहीं तो अभेदी (न भेदी) का व्यवहार भी कैसे बन सकता है? नहीं बन सकता।

यदि यह कहा जाय कि शब्दभेद तथा विकल्पभेदके कारण भेदी होनेवालोंका जो प्रतिषेध है वह उनके स्वरूपभेदका प्रतिषेध है तब भी शब्दों और विकल्पोंके भेदको स्वयं न चाहते हुए भी संज्ञीके भेदको कैसे दूर किया जायगा, जिससे द्वैतापत्ति होती है? क्योंकि संज्ञीका प्रतिषेध प्रतिषेध्य-संज्ञीके अस्तित्व बिना बन नहीं सकता। इसके उत्तरमें यदि यह कहा जाय कि 'दूसरे मानते हैं इसीसे शब्द और

१ "वस्त्वेवाऽवस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात्।"

विरोधि चाऽभेद्यविशेषभावात्तद्द्योतनः स्याद्गुणतो निपातः।
विपाद्य-सन्धिश्च तथांऽगभावादवाच्यता श्रायस-लोपहेतुः ॥४२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विकल्पके भेदको इष्ट किया गया है, इसमें कोई दोष नहीं,' तो यह कथन भी नहीं बनता; क्योंकि अद्वैतावस्थामें स्व-परका (अपने और परायेका) भेद ही जब इष्ट नहीं तब दूसरे मानते हैं यह हेतु भी सिद्ध नहीं होता, और असिद्ध-हेतु-द्वारा साध्यकी सिद्धि बन नहीं सकती। इसपर यदि यह कहा जाय कि 'विचारसे पूर्व तो स्व-परका भेद प्रसिद्ध ही है' तो यह बात भी नहीं बनती; क्योंकि अद्वैतावस्थामें पूर्वकाल और अपरकालका भेद भी सिद्ध नहीं होता। अतः सत्ताद्वैतकी मान्यतानुसार सर्वथा भेदका अभाव माननेपर 'अभेदी' वचन विरोधी ठहरता है, यह सिद्ध हुआ। इसी तरह सर्वथा शून्यवादियोंका नास्तित्वसे अस्तित्वको सर्वथा अभेदी बतलाना भी विरोधदोषसे दूषित है, ऐसा जानना चाहिए।

(अब प्रश्न यह पैदा होता है कि अस्तित्वका विरोधी होनेसे नास्तित्व धर्म वस्तुमें स्याद्वादियों-द्वारा कैसे विहित किया जाता है? क्योंकि अस्ति पदके साथ 'एव' लगानेसे तो 'नास्तित्व'का व्यवच्छेद—अभाव होजाता है और 'एव'के साथमें न लगानेसे उसका कहना ही अशक्य होजाता है क्योंकि वह पद अनुक्ततुल्य होता है। इससे तो दूसरा कोई प्रकार न बन सकनेसे अवाच्यता—अवक्तव्यता ही फलित होती है। तब क्या वही युक्त है? इस सब शङ्काके समाधान-रूपमें ही आचार्य महोदयने कारिकाके अगले तीन चरणोंकी सृष्टि की है, जिनमें वे बतलाते हैं—)

'उस विरोधी धर्मका द्योतक 'स्यात्' नामका निपात (शब्द) है—जो स्याद्वादियोंके द्वारा संप्रयुक्त किया जाता है और गौणरूपसे उस धर्मका द्योतन करता है—इसीसे दोनों विरोधी-अविरोधी (नास्तित्व अस्तित्व जैसे) धर्मोंका प्रकाशन—प्रतिपादन होते हुए भी जो विध्यर्थी है उसकी प्रतिषेधमें प्रवृत्ति नहीं होती। साथ ही वह स्यात् पद विपक्षभूत धर्मकी सन्धि-संयोजनास्वरूप होता है—उसके रहते दोनों धर्मोंमें विरोध नहीं रहता; क्योंकि दोनोंमें अङ्गपना है और स्यात्पद उन दोनों अङ्गोंको जोड़ने वाला है।'

'सर्वथा अवक्तव्यता (युक्त नहीं है; क्योंकि वह) श्रायस—मोक्ष अथवा आत्महितके लोपकी कारण है—; क्योंकि उपेय और उपायके वचन बिना उनका उपदेश नहीं बनता, उपदेशके बिना श्रायसके उपायका—मोक्षमार्गका—अनुष्ठान नहीं बन सकता और उपाय (मार्ग)का अनुष्ठान न बन सकनेपर उपेय-श्रायस (मोक्ष)की उपलब्धि नहीं होती। इसतरह अवक्तव्यता श्रायसके लोपकी हेतु ठहरती है।—अतः स्यात्कार-लांछित एवकार-युक्त पद ही अर्थवान् है ऐसा प्रतिपादन करना चाहिए, यही तात्पर्यात्मक अर्थ है।'

(इसतरह तो सर्वत्र 'स्यात्' नामक निपातके प्रयोगका प्रसङ्ग आता है, तब उसका पद-पदके प्रति अप्रयोग शास्त्रमें और लोकमें किस कारणसे प्रतीत होता है? इस शङ्काका निवारण करते हुए आचार्य महोदय कहते हैं—)

तथा प्रतिज्ञाऽऽशयतोऽप्रयोगः सामर्थ्यतो वा प्रतिषेधयुक्तिः।
इति त्वदीया जिननाग! दृष्टिः पराऽप्रधृष्या परधर्षिणी च ॥४४

'(शास्त्रमें और लोकमें 'स्यात्' निपातका) जो अप्रयोग है—हरएक पदके साथ स्यात् शब्दका प्रयोग नहीं पाया जाता—उसका कारण उस प्रकारका—स्यात्पदात्मक-प्रयोग-प्रकारका—प्रतिज्ञाशय है—प्रतिज्ञामें प्रतिपादन करनेवालेका अभिप्राय सन्निहित है।—जैसे शास्त्रमें 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यादि वाक्योंमें कहींपर भी 'स्यात्' या 'एव' शब्दका प्रयोग नहीं है परन्तु शास्त्रकारोंके द्वारा अप्रयुक्त होते हुए भी वह जाना जाता है; क्योंकि उनके वैसे प्रतिज्ञाशयका सद्भाव है। अथवा (स्याद्वादियोंके) प्रतिषेधकी—सर्वथा एकान्तके व्यवच्छेदकी—युक्ति सामर्थ्यसे ही घटित होजाती है—क्योंकि 'स्यात्' पदका आश्रय लिये बिना कोई स्याद्वादी नहीं बनता और न स्यात्कारके प्रयोग बिना अनेकान्तकी सिद्धि ही घटित होती है; जैसे कि एवकारके प्रयोग बिना सम्यक् एकान्तकी सिद्धि नहीं होती। अतः स्याद्वादी होना ही इस बातको सूचित करता है कि उसका आशय प्रतिपदके साथ 'स्यात्' शब्दके प्रयोग-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा-तत्त्व

(लेखक—क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य)

अहिंसा-तत्त्व ही एक इतना व्यापक है जो इसके उदरमें सर्व धर्म आजाते हैं, जैसे हिंसा पापमें सर्व पाप गर्भित होजाते हैं। सर्वसे तात्पर्य चोरी, मिथ्या, अब्रह्म और परिग्रहसे है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये सर्व आत्म-गुणके घातक हैं अतः ये सर्व पाप ही हैं। इन्हीं कषायोंके द्वारा आत्मा पापोंमें प्रवृत्ति करता है तथा जिनको लोकमें पुण्य कहते हैं वह भी कषायोंके सद्भावमें होते हैं। कषाय आत्माके गुणोंका घातक है अतः जहाँ पुण्य होता है वहाँ भी आत्माके चारित्र-गुणका घात है और इस लिये वहाँ भी हिंसा ही है। अतः जहाँपर आत्माकी परिणति कषायोंसे मलीन नहीं होती वहींपर आत्माका अहिंसा-परिणाम विकासरूप होता है उसीका नाम यथाख्यात चारित्र है। जहाँपर रागादि परिणामोंका अंश भी नहीं रहता उसी तत्त्वको आचार्योंने अहिंसा कहा है—

'अहिंसा परमो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः।'

श्रीअमृतचन्द्रस्वामीने उसका लक्षण यों कहा है:—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

'निश्चयकर जहाँपर रागादिक परिणामोंकी उत्पत्ति नहीं होती वहीं अहिंसाकी उत्पत्ति है और जहाँ रागदिक परिणामोंकी उत्पत्ति होती है वहींपर हिंसा होती है, ऐसा जिनागमका संक्षेपसे कथन जानना।' यहाँपर रागादिकोंसे तात्पर्य आत्माकी परिणतिविशेषसे है—परपदार्थमें प्रीतिरूप परिणाम-का होना राग तथा अप्रीतिरूप परिणामका नाम द्वेष, और तत्त्वकी अप्रतिपत्तिरूप परिणामका होना मोह अर्थात् राग, द्वेष, मोह ये तीनों आत्माके विकार-भाव हैं। ये जहाँपर होते हैं वहीं आत्मा कलि (पाप)का संचय करता है, दुखी होता है, नाना प्रकार पापादि कार्योंमें प्रवृत्ति करता है। कभी मन्द राग हुआ तब परोपकारादि कार्योंमें व्यग्र रहता है, तीव्र राग-द्वेष हुआ तब विषयोंमें प्रवृत्ति करता है या हिंसादि पापों-में मग्न होजाता है। कहीं भी इसे शान्ति नहीं मिलती। यह सर्व अनुभूत विषय है। और जब रागादि परिणाम नहीं होते तब शान्तिसे अपना जो ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप है उसीमें लीन रहता है, जैसे जलमें पङ्क-के सम्बन्धसे मलिनता रहती है। यदि पङ्कका संबन्ध

का है,—भले ही उसके द्वारा प्रयुक्त हुए प्रतिपदके साथमें 'स्यात्' शब्द लगा हुआ न हो, यही उसके पद-प्रयोगकी सामर्थ्य है।'

(इसके सिवाय, 'सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादि-चतुष्टयात्' इसप्रकारके वाक्यमें स्यात् पदका अप्रयोग है ऐसा नहीं मानना चाहिए; क्योंकि 'स्वरूपादि-चतुष्टयात्' इस वचनसे स्यात्कारके अर्थकी उसी प्रकार प्रतिपत्ति होती है जिसप्रकार कि 'कथञ्चित्ते सदेवेष्टं' इस वाक्यमें 'कथञ्चित्' पदसे स्यात्पदका प्रयोग जाना जाता है। इसीप्रकार लोकमें 'घट आनय' (घड़ा लाओ) इत्यादि वाक्योंमें जो स्यात् शब्दका अप्रयोग है वह उसी प्रतिज्ञाशयको लेकर सिद्ध है।)

'इसतरह हे जिन-नाग!—जिनोंमें श्रेष्ठ श्रीवीर भगवन्!—आपकी (अनेकान्त) दृष्टि दूसरोंके—सर्वथा एकान्तवादियोंके—द्वारा अप्रधृष्या है—अबाधितविषया है—और साथ ही परधर्षिणी है—दूसरे भावैकान्तादिवादियोंकी दृष्टियोंकी धर्षणा करनेवाली है—उनके सर्वथा एकान्तरूपसे मान्य सिद्धान्तोंको बाधा पहुँचानेवाली है।'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उससे पृथक् होजावे तब जल स्वयं निर्मल होजाता है। तदुक्तं—'पंकापाये जलस्य निर्मलतावत्।' निर्मलताके लिये हमें पङ्कको पृथक् करनेकी आवश्यकता है। अथवा जैसे जलका स्वभाव शीत है। अग्निके सम्बन्धसे जलमें उष्णता पर्याय होजाती है उस समय जल, देखा जावे तो, उष्ण ही है। यदि कोई मनुष्य जलको शीत-स्वभाव मानकर पान कर लेवे तब वह नियमसे दाहभावको प्राप्त होजावेगा। अत: जलको शीत करनेके वास्ते आवश्यकता इस बातकी है जो उसको किसी बर्तनमें डालकर उसकी उष्णता पृथक् कर देना चाहिये। इसी प्रकार आत्मामें मोहोदयसे रागादि परिणाम होते हैं वे विकृतभाव हैं। इनसे आत्मा नाना प्रकारके क्लेशोंका पात्र रहता है। उनके न होनेका यही उपाय है जो वर्तमानमें रागादिक हों उनमें उपादेयताका भाव त्यागे, यही आगामी न होनेमें मुख्य उपाय है। जिनके यह अभ्यास होजाता है उनकी परिणति सन्तोषमयी होजाती है। उनका जीवन शान्तिमय बीतता है, उनके एक बार ही पर पदार्थोंसे निजत्व बुद्धि मिट जाती है। और जब परमें निजत्वकी कल्पना मिट जाती है तब सुतरां राग-द्वेष नहीं होते। जहाँ आत्मामें राग-द्वेष नहीं होते वहीं पूर्ण अहिंसाका उदय होता है। अहिंसा ही मोक्षमार्ग है। वह आत्मा फिर आगामी अनन्त काल, जिस रूप परिणम गया, उसी रूप रहता है। जिन भगवानने यही अहिंसाका तत्त्व बताया है-अर्थात् जो आत्माएँ राग-द्वेष-मोहके अभावसे मुक्त होचुकी हैं उन्हींका नाम जिन है। वह कौन है? जिसके यह भाव होगये वही जिन है। उसने जो कुछ पदार्थका स्वरूप दर्शाया उस अर्थके प्रतिपादक जो शब्द हैं उसे जिनागम कहते हैं। परमार्थसे देखा जाय तो, जो आत्मा पूर्ण अहिंसक होजाती है उसके अभिप्रायमें न तो परके उपकारके भाव रहते हैं और न अनुपकारके भाव रहते हैं। अत: न उनके द्वारा किसीके हितकी चेष्टा होती है और न अहितकी चेष्टा होती है। किन्तु जो पूर्वोपार्जित कर्म है वह उदयमें आकर अपना रस देता है। उस कालमें उनके शरीरसे जो शब्दवर्गणा निकलती हैं उनसे क्षयोपशमज्ञानी वस्तुस्वरूपके जाननेके अर्थ आगम-रचना करते हैं।

आज बहुतसे भाई जैनोंके नामसे यह समझते हैं जो वह एक जाति-विशेष है। यह समझना कहाँ तक तथ्य है, पाठकगण जानें। वास्तवमें जिसने आत्माके विभाव-भावोंपर विजय पा ली वही जैन। यदि नामका जैनी है और उसने मोहादि कलङ्कोंको नहीं जीता तब वह नाम 'नामका नैनसुख आँखोंका अन्धा'की तरह है। अत: मोह-विकल्पोंको छोड़ो और वास्तविक अहिंसक बनो।

वास्तवमें तो बात यह है कि पदार्थ अनिर्वचनीय है—कोई कह नहीं सकता। आप जब मिसरी खाते हो तब कहते हो मिसरी मीठी होती है—जिस पात्रमें रक्खी है वह नहीं कहता; क्योंकि जड है। ज्ञान ही चेतन है वह जानता है मिसरी मीठी है, परन्तु यह भी कथन नहीं बनता; क्योंकि यह सिद्धान्त है कि ज्ञान ज्ञेयमें नहीं जाता और ज्ञेय ज्ञानमें नहीं जाता। फिर जब मिसरी ज्ञानमें गई नहीं तब मिसरी मीठी होती है, यह कैसे शब्द कहा जासकता है? अथवा जब ज्ञानमें ही पदार्थ नहीं आता तब शब्दसे उसका व्यवहार करना कहाँ तक न्यायसङ्गत है। इससे यह तात्पर्य निकला—मोह-परिणामोंसे यह व्यवहार है अर्थात् जब तक मोह है तब तक ज्ञानमें यह कल्पना है। मोहके अभावसे यह सर्व कल्पना विलीन हो जाती है—यह असङ्गत नहीं। जब तक प्राणीके मोह है तब तक ही यह कल्पना है जो ये मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूँ। और ये मेरी भार्या है मैं इसका पति हूँ। मोहके अभावमें यह सर्व व्यवहार विलीन होजाते हैं—जब यह आत्मा मोहके फन्दमें रहता है तब नाना कल्पनाओंकी सृष्टि करता है, किसीको हेय और किसीको उपादेय मानकर अपनी प्रवृत्ति बनाकर इतस्तत: भ्रमण करता है। मोहके अभावमें आपसे आप शान्त होजाता है। विशेष क्या लिखूं, इसका मर्म वे ही जानें जो निर्मोही हैं, अथवा वे ही क्या जानें, उन्हें विकल्प ही नहीं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य वर्णी गणेशप्रसादजीके हृदयोद्गार

[हालमें पूज्य वर्णी गणेशप्रसादजीका एक मार्मिक पत्र मुझे मुरार (ग्वालियर)से प्राप्त हुआ है, जिसमें उन्होंने मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके कार्योंके प्रति अपना हार्दिक प्रेम प्रदर्शित करते हुए अपने कुछ हृदयोद्गार व्यक्त किये हैं, जो सारे जैन समाजके जानने योग्य हैं। अतः उनका वह पूरा पत्र यहाँ प्रकाशित किया जाता है। पाठक देखेंगे कि पूज्य वर्णीजीको मुख्तार सा०के अनुसन्धान-कार्य कितने अधिक प्रिय हैं और वे उन्हें कितना अधिक पसन्द करते हैं तथा उनके इस अनुसन्धान-विभागको स्थायित्व प्राप्त होनेकी कितनी शुभ भावनाओंको अपने हृदयमें स्थान दिये हुए हैं। क्या ही अच्छा हो यदि जैन समाज वर्णीजीके इन हृदयोद्गारोंके मर्मको समझे, उनकी भावनाको 'भावनामात्र' न रहने दे और न उन्हें फिरसे यह कहनेका अवसर ही दे कि 'हमारे भाव तो मन ही में विलय जाते हैं।' —दरबारीलाल कोठिया]

श्रीयुत कोठियाजी महोदय, दर्शनविशुद्धिः।

पत्र आया। समाचार जाने। बाबूजी (मुख्तार जुगलकिशोरजी) का कार्य तो मुझे इतना प्रिय है जो उसके अर्थ अब भावना-मात्र रह गई है। ऐसे कार्योंके लिये तो उनकी इच्छानुकूल पुष्कल द्रव्य होता और कमसे कम १० विद्वान रहते जिन्हें इच्छित द्रव्य दिया जाता। सालमें उनें २ बार छुट्टी दी जाती १ मास जाड़ामें १ मास गर्मीमें। जहाँपर यह तत्त्वानुसंधान होता वहीं पर १ स्थानपर उनका भोजन होता। वे सिवाय तत्त्वानुसंधानके अन्य कथा न करते। १ वृहत्स्थान होता जहाँपर सब ऋतुके अनुकूल स्थान होता। इस कार्यके लिये कमसे कम १० लाख रुपया होता उसके ब्याजसे यह कार्य चलता। यद्यपि यह होना कठिन नहीं परन्तु हमारी दृष्टि तो जड़वादके पुष्ट करनेमें लग रही है—अतः हमारे भाव तो मन ही में विलय जाते हैं। थोथा सभापति बननेसे जलविलोचनके सदृश प्रयास है। कोई ऐसा व्यक्ति तलाशो जो इसकी पूर्तिकर सुयशका भागी हो। हाँ यह मेरेको भी इष्ट है जो १ वार मैं भी आपके उत्सवको देखलूं। परन्तु यह इष्ट नहीं जो केवल नाटक हो, कुछ कार्य हो। इस विभागकी महती आवश्यकता है। परन्तु इसकी पूर्ति कैसे हो, यह समझमें नहीं आता—समझमें नहीं आता, इसका यह अर्थ है जो समाजने अभी इस विषयपर मीमांसा नहीं की। केवल ऊपरी-ऊपरी बातोंपर इसका समय जाता है। अन्तमें यही कहना पड़ता है—

त्वं चेन्नीचजनानुरागरभसादस्मासु मन्दादरः।
का नो मानद मानहानिरियती भूः किं त्वमेव प्रभुः॥
गुञ्जापुञ्जपरम्परापरिचयाद्भिल्लीजनैरुज्झितं ।
मुक्तादाम न धारयन्ति किमहो कण्ठे कुरङ्गीदृशः॥

आ० शु० चि०
गणेश वर्णी

नोट—अतः हमारा कहना बाबूजी (मुख्तार जुगलकिशोरजी) से कह दो। आपके बड़े २ धनाढ्य मित्र हैं। वे कब आपकी इच्छाकी पूर्ति करेंगे? आपका जीवन ४ या ६ वर्ष ही तो रहेगा। यदि आपके समक्ष इन लोगोंने कुछ न किया तब पीछे क्या करेंगे?
(ज्येष्ठ सुदि)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रावणपार्श्वनाथकी अवस्थिति

(लेखक—श्रीअगरचन्द नाहटा)

'अनेकान्त'के गत अक्तूबरके अङ्कमें पद्मनन्दि-रचित रावणपार्श्वनाथस्तोत्र प्रकाशित हुआ है। उसका परिचय कराते हुए सम्पादक श्रीमुख्तार साहबने लिखा है कि "यह स्तोत्र श्रीपद्मनन्दि मुनिका रचा हुआ है और रावणपत्तनके अधिपति अर्थात वहाँ स्थित देवालयके मूलनायक श्रीपार्श्वजिनेन्द्रसे सम्बन्धित है; जैसा कि अन्तिम पद्यसे प्रकट है। मालूम नहीं यह "रावणपत्तन" कहाँ स्थित है और उसमें पार्श्वनाथका यह देवालय (जैनमन्दिर) अब भी मौजूद है या नहीं, इसकी खोज होनी चाहिये।"

तीन वर्ष हुए श्वे० साहित्यमें रावणपार्श्वनाथका उल्लेख अवलोकनमें आनेपर मेरे सामने भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ था और अपनी शोध-खोजके फल-स्वरूप इसकी अवस्थितिका पता लग जानेपर जैन सत्यप्रकाशके क्रमाङ्क ११४में "रावणतीर्थ कहाँ है?" शीर्षक लेखद्वारा प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया गया था। मेरे उक्त लेखसे स्पष्ट है कि रावणपार्श्वनाथ वर्त्तमान अलवरमें स्थित है। इसके पोषक ९ उल्लेख—१६वीं शताब्दीसे वर्त्तमान तकके–उस लेखमें दिये गये थे एवं रावणपार्श्वनाथकी नवीन चैत्यालय-स्थापना (जीर्णोद्धार)का सूचक सं० १६४५के शिला-लेखको भी प्रकाशित किया गया था। इसी समय अलवरसे प्रकाशित 'अरावली' नामक पत्रके वर्ष १ अङ्क १२में "जैनसाहित्यमें अलवर" शीर्षक लेखमें भी इसके सम्बन्धमें प्रकाश डाला गया था। यहाँ उसके पश्चात् जो कतिपय और उल्लेख अवलोकनमें आये हैं वे दे दिये जाते हैं:—

१ खेमराज (१६वीं)के फलौधी-स्तवन (गा. २४)में—
"थंभणपुरि महिमा निलो, गऊउडर गौडीपुर पास।
जेसलमेरहि परगडो रावणि अलवर पूरइ आस। २०

२ साधुकीर्ति रचित (सं० १६२४) मौन-एकादशी-स्तवन (गाथा १७)में:—
"गढ नयर अलवर सुखहमंडप पास रावणसंपुण्यउ।"

३ रत्नजय (१८वीं) कृत ११७ नाम गर्भित पार्श्व-स्तवन गा. १७)में:—
"अंतरीक बीजापुरै रे लाल अलवर रावणपास।"

४ रत्ननिधान (१७वीं) कृत पार्श्वलघु-स्तवन (गा. ९)में—
"जीरावलि सोवन गिरइ, अलवरगढ़ रावण जागइ रे"

५ कल्याणसागरसूरि-रचित रावणपार्श्वाष्टकमें—
"अलवरपुररत्नं रावणं पार्श्वदेवं,
प्रणतशुभसमुद्रं कामदं देवदेवं।"

रावणपार्श्वनाथकी प्रसिद्धिका पता अभी तक श्वे० साहित्यसे ज्ञात था। पद्मनन्दिके स्तोत्रसे उसकी प्रसिद्धि दोनों सम्प्रद्रायोंमें समानरूपसे रही ज्ञात कर हर्ष होता है। वर्त्तमान मेल-जोलके युगमें ऐसी बातों एवं तीर्थों आदिपर विशेषरूपसे प्रकाश डालना अत्यन्त आवश्यक है, जो दोनों सम्प्रदायवालोंको समानरूपसे मान्य हों। अलवरके रावणपार्श्वनाथका इतिहास मनोरञ्जक एवं कौतूहलजनक होना चाहिये। नामके अनुसार इस पार्श्वनाथ-प्रतिमाका सम्बन्ध रावणसे या अलवरका प्राचीन नाम रावणपत्तन होना विदित होता है। अतः अलवर निवासी जैन भाईयों एवं अन्य विद्वानोंको उसका वास्तविक इति-हास शीघ्र ही प्रकाशमें लानेका प्रयत्न करना चाहिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वीर-शासन-जयन्तीका पावन पर्व

इस युगके अन्तिम तीर्थङ्कर श्रीवीर-वर्द्धमानने संसारके त्रस्त और पीडित जनसमूहके लिये अपने जिस अहिंसा और अनेकान्तमय शासन (उपदेश)का प्रथम प्रवर्त्तन किया था उस शासनकी जयन्तीका पावन पर्व इस वर्ष श्रावण कृष्णा प्रतिपदा ता० २२ जुलाई १९४८ वृहस्पतिवारको अवतरित होरहा है। भगवान वीरने इस पुण्य दिवसमें जिस परिस्थिति को लेकर अपना अहिंसादिका शासन (प्रथम उपदेश) प्रवृत्त किया था वह प्राय: आज जैसी ही थी। धर्मके नाम पर उस समय अनेक हिंसामयी यज्ञ-याग किये जाते थे, मूक पशुओंको निर्दयतापूर्वक उनमें होमा जाता था, स्त्री और शूद्र धर्माधिकारी नहीं समझे जाते थे, वे मनुष्योंकी कोटिसे भी गये बीते थे। भगवान वीरने अपने अहिंसा प्रधान 'सर्वोदय तीर्थ' के द्वारा उन हिंसामयी यज्ञोंको पूर्णतया बन्द करके स्त्रियों और शूद्रोंको भी उनकी योग्यतानुसार धर्माधिकार दिये थे और प्राणिमात्रके लिये कल्याणका द्वार खोला था।

अतएव उनकी इस शासनप्रवर्त्तन तिथि–श्रावण कृष्णा प्रतिपदा–का बड़ा महत्व है और उसका सीधा सम्बन्ध जनताके आत्म-कल्याणके साथ है।

आज सारा संसार त्रस्त और दुखी है। पशुओं की तो बात ही क्या, मनुष्य मनुष्योंके द्वारा मारे-काटे, अग्निमें होमे तथा अपमानित किये जारहे हैं। सभी एक दूसरेसे भयातुर और परेशान हैं। यदि उनका दुख और भय तथा परेशानी दूर होसकते हैं तो भगवान वीरके द्वारा प्रवर्तित अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रहके शासनसे ही दूर होसकते हैं। महात्मा गाँधीने इस दिशामें प्रयत्न किया था और संसारको सुखी और शान्तिमय जीवन व्यतीत करनेके लिये अहिंसक, उदार तथा अपरिग्रही बननेका अनुरोध किया था। यदि संसार गाँधीजीके मार्गपर चलता तो आज भय परेशानी और दुखोंका वह शिकार न होता।

वीर-शासनके अनुयायियोंका इस स्थितिको दूर करनेका सबसे अधिक और भारी उत्तरदायित्व है; क्योंकि उनके पास अहिंसाके अवतार भगवान महावीरके द्वारा दी हुई वह वस्तु है—वह विधि है जो जादूका-सा काम कर सकती है और दुनियामें अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, समभाव और मैत्रीकी व्यवस्था कर सकती है। यह निधि अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रहके मूल्यवान सिद्धान्त हैं, *जिनका आज हमें भारीसे भारी प्रचार और प्रसार* करनेकी सख्त जरूरत है।

सौभाग्यसे इस वर्ष वीर-शासन-जयन्तीका वार्षिक उत्सव जिस महान् सन्तके नेतृत्वमें मुरार (ग्वालियर)में विशेष समारोहके साथ होने जारहा है वह जैन समाज और भारतका ही सन्त नहीं है अपितु सारे संसारका सन्त है। उसके हृदयमें विश्वभरके लिये अपार करुणा और मैत्री है। यह सन्त वर्णी गणेशप्रसाद के नामसे सर्वत्र विश्रुत हैं। सन्त के अतिरिक्त आप उच्चकोटिके विद्वान् (न्यायाचार्य) प्रभावक वक्ता और सफल नेता भी हैं।

आशा है ऐसे पुरुषोत्तमके नेतृत्वमें इस वर्ष वीरशासन जयन्तीके अवसरपर वीरशासनके प्रचार-प्रसार, पुरातत्त्व तथा साहित्यके अनुसन्धान और देश तथा समाजके उत्कर्ष-साधनादिका कोई विशिष्ट एवं ठोस कार्य किया जायगा।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा
ता० ६-७-१९४८

दरबारीलाल कोठिया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शृंगेरिकी पार्श्वनाथ-बस्तीका शिलालेख

(बा० कामताप्रसाद जैन, सम्पादक 'वीर')

["आर्केलॉजिकल सर्वे ऑफ मैसूर" सन् १९३३में शृंगेरि नामक स्थानके शिलालेख दिये हुये हैं। उनमेंसे एक शिलालेखको हम सधन्यवाद यहाँ उपस्थित करते हैं। —लेखक]

१. श्रीमत्परमगंभीरस्याद्वादामोघलां—
२. च्छनं जीयात् त्रैलोक्य-नाथस्य शासनं जिनशासनं ।
३. स्वस्ति श्रीमत् शकवर्षम् द १०८२
४. विक्रम संवत्सरद कुम्भ शु—
५. द्ध दशमि बृहवारदन्दु श्रीमान्—निडुगोड
६. विजयनारायण शान्तिसेट्टिय पुत्र बा—
७. सि-सेट्टियर अक सिरियबे—सट्टितियर म—
८. गलु नागवे-सेट्टितियर मगलु सिरिय—
९. ले-सेट्टितिगं हेम्माडि-सेट्टिगं सुपुत्रन—
१०. प्प मारिसेट्टिगे परात्तविनयक्के मा—
११. डिसिद् बसदिगे बिट्ट दत्ति केरेय केलग—
१२. ण हिरिय गदेय वसदिय बडगण होस ··
१३. यं भंडियुं होलेयुं नडुवण हुदुविन होरद
१४. मण्णु कण्डुग सुल्लिगोड अरुगण्डुग मण्णु
१५. ·········· बणजमुं नानदेसियुं बिट्टय
१६. ·········· मलवेगे हाग हन्ज बोट्टिय मल
१७. ·········· ले मेलसिन मारके हागमुं
१८. मत्तं पोत्तोब्बलुप्पु हेरिगु अय्वत्तले अरिसिनद मलवेगे बिसके बिट्टं तपिद्डे तप्पिदवनु गंगेय-
१९. लु सैर कविलेय कोन्द पातक

इसके अंग्रेजी अनुवादका भावार्थ निम्न प्रकार है:—"जिनशासन जयवंता प्रवर्तो जो त्रिलोकीनाथका शासन है और श्रीमत् परमगंभीर स्याद्वाद-लक्षण से युक्त है। स्वस्ति। शक संवत् १०८२ विक्रमवर्षके कुंभके शुक्लपक्षकी दशमीके बृहस्पतिवारको बसदि (जिनमन्दिर)के लिए दान दिया गया, जिसे हेम्माडिसेट्टिके पुत्र मारिसेट्टिकी एवं नागवेसेट्टितियरकी पुत्री सिरियबेसेट्टितिकी स्मृतिमें निर्माण किया गया था। सिरियबेसेट्टिति निडुगोडु-निवासी विजयनारायण शान्तिसेट्टिके पुत्र बासिसेट्टिकी बड़ी बहन थी। बणजमु और नानादेशी व्यापारियोंने भी बसदिके लिए कतिपय वस्तुओंपर कर देना स्वीकार किया। अन्तमें जो इस दानको नष्ट करेगा उसे गङ्गापर एक सहस्र गौवध करनेका पातक लगेगा, यह उल्लेख है। इस लेखसे स्पष्ट है कि पहले शृंगेरिमें जैनोंकी संख्या और मान्यता अधिक थी। (The inscription shows that Jainism had once a good following in Sringeri in former times.—Arch. Sur. of Mysore, 1933, p. 124)

आजकल शृंगेरि ब्राह्मण-सम्प्रदायका मुख्य केन्द्र और तीर्थ बना हुआ है। शङ्कराचार्यके समयसे ही शृंगेरिमें ब्राह्मणधर्मकी जड़ जम गई थी और उपरान्तकालमें ब्राह्मण सम्प्रदायमें शृंगेरिमठके श्रीशङ्कराचार्य प्रसिद्ध होते आये हैं। आज वहाँ जैनायतन हतप्रभ होरहे हैं। जैनोंको उनका जरा भी ध्यान नहीं है। इस प्रकारकी अनेक कीर्ति-कृतियाँ भारतमें बिखरी पड़ी हैं, पर हमारे जैनी भाई उनकी ओरसे बेसुध हैं।

इस शिलालेखमें व्यापारियोंके दो भेदों (१) बणजमु (२) और नानादेशीका उल्लेख उनकी बणिज-वृत्तिको ही सम्भवतः लक्ष्यमें लेकर किया गया है। अनुमानतः जो लोग दूर दूर देशोंमें न जाकर स्थानीय देहातमें व्यापार करते होंगे वे बणजमु कहलाते होंगे। और दूर दूर देशोंमें जाकर (से आकर?) व्यापार करनेवाले नानादेशी कहलाते होंगे। दक्षिणके विद्वानोंको इसपर प्रकाश डालना चाहिये। इससे इतना स्पष्ट है कि इन व्यापारियोंमें जातिगत भेदभाव तबतक नहीं था।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैनपुरातन अवशेष

[विहङ्गावलोकन]

(लेखक—मुनि कान्तिसागर)

आर्यावर्तकी तक्षण कलाके संरक्षण और विकास में जैन समाजने बहुत बड़ा योगदान दिया है जिसकी स्वर्णिम गौरव गरिमाकी पताकास्वरूप आज भी अनेकों सूक्ष्मातिसूक्ष्म कला-कौशलके उत्कृष्टतम प्रतीक-सम पुरातन मन्दिर, गृह-प्रतिमाएँ विशाल-स्तंभादि बहुमूल्यावशेष बहुत ही दुरवस्थामें अवशिष्ट हैं। ये प्राचीन संस्कृति और सभ्यताके ज्वलंत दीपक—प्रकाशस्तम्भ हैं। वर्षोंका अतीत इनमें अन्तर्निहित है। बहुत समय तक धूप-छांहमें रहकर इन्होंने अनुभव प्राप्त किया है। वे न केवल तात्कालिक मानव-जीवन और समाजके विभिन्न पहलुओंको ही आलोकित करते हैं अपितु मानों वे जीर्ण-विशीर्ण खण्डहरों, वनों और गिरिकन्दराओंमें खड़े खड़े अपनी और तत्कालीन भारतीय सांस्कृतिक परिस्थितियोंकी वास्तविक कहानी, अतिगम्भीररूपसे पर मूकवाणीमें, उन सहृदय व्यक्तियोंको श्रवण करा रहे है जो पुरातन-प्रस्तरादि अवशेषोंमें अपने पूर्वपुरुषोंकी अमरकीर्तिलताका सूक्ष्मावलोकन कर स्वर्णतुल्य नवीन प्रशस्त मार्गकी सृष्टि करते हैं। यदि हम थोड़ा भी विचार करके उनकी ओर दृष्टि केन्द्रित करें तो विदित हुए बिना नहीं रहेगा कि प्रत्येक समाज और जातिकी उन्नत दशाका वास्तविक परिचय इन्हीं खण्डित अवशेषोंके गम्भीर अध्ययन, मनन और अन्वेषणपर अवलम्बित है। मेरा तो मानना है कि हमारी सभ्यताकी रक्षा और अभिवृद्धिमें किसी प्राचीन साहित्यादिक ग्रन्थोंसे इनका स्थान किसी दृष्टिसे भी कम नहीं, स्थायित्व तो साहित्यादिसे इनमें अधिक है। साथ ही साथ यह भी कहना पड़ेगा कि साहित्यकार जिन उदात्त भावोंका व्यक्तीकरण बहुत स्थान रोककर करता है, जबकि कलाकार जड़ वस्तुओंपर अत्यन्त सीमित स्थानमें अपनी छैनी द्वारा उन भावनाओंको विश्वलिपिके रूपमें व्यक्त करता है। निरक्षर जनता भी इस विश्वलिपिसे ज्ञान प्राप्त कर लेती है! एक समय था जब इन कलाकारोंका समादर भारतमें सर्वत्र था, सांस्कृतिक अमर-तत्त्वोंके प्रचारण एवं संरक्षणमें वे सबसे अधिक दायित्व रखते थे। लौकिक जनोंकी रुचि और परिष्कृत विचारधाराके अक्षुण्ण प्रवाहको वे जानते थे। उनका जीवन सात्विक और मनोवृत्तियाँ आज के कलाकारोंके लिये आदर्शकी वस्तु थीं। इन्हीं किन्हीं कारणोंसे प्राचीन भारतीय साहित्यमें इनको उच्च स्थान प्राप्त था। जैनाचार्य श्रीमान् हरिभद्रसूरिजी—जो अपने समयके बहुत बड़े दार्शनिक और प्रतिभासम्पन्न विद्वान् ग्रन्थकार थे—ने अपने षोडश प्रकरणोंमें कलाकारोंके सम्बन्धमें जो विचार व्यक्त किये हैं वे हमारे लिये बहुत ही मूल्यवान् हैं। वे लिखते हैं "कलाकारको यह न समझना चाहिये वह हमारा वेतन-भोगी भृत्य है पर अपना सखा और प्रारम्भीकृत कार्यमें परमसहयोगी मानकर उनको आवश्यक सभी सुविधाएँ प्रदान कर सदैव सन्तुष्ट रखना चाहिये, उनको किसी भी प्रकारसे ठगना नहीं चाहिये, वेतन ठीक देना चाहिये, उनके भाव दिन प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त हों वैसा आचरण करनेसे ही वे उच्चकी रचनाका निर्माण कर समाजके आध्यात्मिक कल्याणमें आंशिक सहायक प्रमाणित हो सकते हैं।" और ग्रन्थोंमें भी इन्हीं भावोंको पुष्ट करने वाले अन्यान्य उद्धरण उपलब्ध हैं पर उनकी यहाँ विवक्षा नहीं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँपर प्रश्न यह उपस्थित होजाता है कि शिल्प है क्या ? क्योंकि सर्वसभ्यताओंके लिये शिल्प परम आवश्यक है। जिस प्रकार प्राणीमात्रकी संवेदनाका सर्वोच्च शिखर सङ्गीत है ठीक उसी प्रकार शिल्पका विस्तृत और व्यापक भवन निर्माण है। जनतामें आमतौरपर—अर्थात् लोकभाषामें शिल्पका सामान्य अर्थ ईंटपर ईंट या प्रस्तरपर प्रस्तर सजा देना ही शिल्प माना जाता है। परन्तु वस्तुस्थिति देखनेसे यह परिभाषा भावसूचक नहीं मालूम देती—अपूर्ण है। शिल्पकी सर्वगम्य व्याख्या करना भी तो आसान नहीं।

परन्तु फिर भी प्रो० मुल्कराज आनन्दने निम्न पंक्तियोंमें जो परिभाषाकी है वह उपयुक्त है—"शिल्प वही है जो निर्माण-सामग्रियों-द्वारा कल्पनाके आधारपर बनाया जाय। उस शिल्पको हम कभी अद्वितीय कह सकते हैं जिसकी कला एवं कल्पनाका प्रभाव मनुष्यपर पड़ सके"। उपर्युक्त दार्शनिक पद्धतिकी परिभाषासे कलाकारोंका जो उत्तरदायित्व बढ़ जाता है वह किसीसे अब छिपा नहीं। "मनुष्यपर प्रभाव" और "प्राप्त सामग्रियों-द्वारा निर्माण" ये शब्द गम्भीर अर्थ रखते हैं। प्राप्त सामग्री यानि केवल कलाकारके औज़ार और एतद्विषयक साहित्यिक ग्रंथ ही नहीं हैं अपितु उनके वैयक्तिक विशुद्ध चरित्रकी ओर भी व्यंग्यात्मक संकेत है। कल्पनात्मक शिल्प निर्माणमें जो मानसिक पृष्ठभूमि तैयार करनी पड़ती है वह कला-समीक्षकोंके लिये अनुभवका ही विषय है। कल्पना-द्वारा मानव जगतके आध्यात्मिक और भौतिक संस्कृतिके उच्चतम सिद्धान्तोंका समुचित अङ्कन ही प्रभावोत्पादक हो सकते हैं। तभी तो मानव उनके प्रभावसे प्रभावित होता है। आश्चर्य-जनक वायुमण्डलमें सभी आकर्षण रखते हैं। जिनको प्राचीन खंडहरोंको देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है यदि उनके साथ कलाप्रेमी और कलाके तत्त्वोंको न जानने वाले व्यक्ति साथ रहे हों तब तो कहना ही क्या ?—उनको अनुभव होगा कि प्राचीन शिल्प-कलात्मककृतियोंका जो कोई भी अवलोकन करता है तल्लीन होजाता है भले ही वह उनके मर्मस्पर्शी इतिहाससे परिचित न हो। एवं कलाविज्ञ तो इनमें महान् सत्यके दर्शन करते हैं; क्योंकि विषयको समझनेकी शक्ति उनमें है। कथनका तात्पर्य केवल इतना ही है कि मानव-संस्कृतिके विकास और संरक्षणमें जिनका भी योग रहा है उनमें शिल्पकार सर्वप्रथम स्थानपर है। मानवके आभ्यंतरिक जीवनसे भी इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है, चाहे वह अरण्यवासी ही क्यों न रहा हो।

भारतीय वास्तुकलाका इतिहास यों तो जबसे मानवका विकास हुआ तभीसे ही मानना होगा पर शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टिसे कला-समीक्षकोंने मोहेंजोदडो एवं हरप्पासे माना है। इस युगके पूर्व जहाँ तक हम समझते हैं जो युग बाँस, लकड़ी, पत्तोंकी झोंपड़ियोंका था वह अधिक महत्वपूर्ण था, सात्विक भावनाओंको भी लिये हुए था, प्रकृतिकी गोदमें मानवको जो विचारकी मौलिक सामग्री मिलती है उसे ही वह मानव-समाजकी भलाईके लिये कलाके द्वारा मूर्तरूप देता है। इस प्रकार दिन प्रतिदिन वास्तुकलाका विकास होता गया, अजंटा, जोगीमारा, बाग, इलोरा चाँदबड़, पद्दुकोटा, एलिफंटा आदि अनेकों ऐसी गुफाएँ हैं जो भारतीय तक्षण और गृह-निर्माणकला-को श्रेष्ठ प्रतीक हैं। वास्तुकलाका प्रवाह समयकी गति और शक्तिके अनुरूप बहता गया, समय समय पर कलाविज्ञोंने इसमें नवीन तत्त्वोंको प्रविष्ट कराया कि मानों वह यहाँकी ही स्वकीय सम्पत्ति हो, निर्माण पद्धति, औज़ार आदिमें भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। जब जिस विषयका सार्वभौमिक विकास होता है तब उसे विद्वान लोग लिपिबद्ध कर साहित्यका रूप दे देते हैं, जिससे अधिक समय तक मानवके संपर्कमें रह सकें, क्योंकि कल्पना-जगतके सिद्धान्तोंकी परम्परा तभी चल सकती है जब उत्तराधिकारी मिलता है। गत पाँच हजारसे अधिक वर्षोंका वास्तु-कलाका इतिहास महत्वपूर्ण, रोचक और ज्ञानवर्द्धक है। इसके नमूनेके स्वरूप प्राचीन गृह, मन्दिर, मूर्तियाँ, किले, शस्त्रादि मानव समाजोपयोगी अनेक उपकरण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमान हैं, जिनपर लाखों पृष्ठोंमें लिखा जाय तो कम है। मुझे तो प्रकृत निबन्धमें केवल जैनपुरातत्व के अँगीभूत जो अवशेष उपलब्ध होते हैं—नष्ट होने की प्रतीक्षामें हैं—उन्हींपर अपने त्रुटिपूर्ण विचार व्यक्त कर समाजके विद्वान और धनीमानी व्यक्तियोंका ध्यान अपनी सांस्कृतिक सम्पत्तिकी ओर आकृष्ट करना है और यही इस निबन्धका उद्देश्य है।

आर्यावर्तका सम्भवतः शायद ही कोई कोना ऐसा हो जहाँपर यत्किञ्चितरूपेण जैन-पुरातत्त्वके अवशेष उपलब्ध न होते हों, प्रत्युत कई प्रान्त और जिले तो ऐसे हैं जो जैनपुरातत्त्वकी सभी शाखाओंके पुरातनावशेषोंको सुरक्षित रक्खे हुए हैं; क्योंकि सांस्कृतिक उच्चताके प्रतीक-सम इनके निर्माणमें आर्थिक सहायक जैनोंने अपने द्रव्यका अन्य समाजापेक्षया सर्वाधिक व्यय कर जैन संस्कृतिकी बहुत अच्छी सेवा की है। बङ्गाल, मेवाड़ और मध्यप्रान्त आदि कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँपर कालके महाचक्रके प्रभावसे आज जैनोंका निवास नहीं है पर जैनकला के मुखको समुज्ज्वल करने वाले मन्दिर, स्तम्भ, प्रतिमा या खंडहर विद्यमान हैं। ये पूर्वकालीन जैनों के निवासके प्रतीक हैं। एक समय था जब बङ्गाल जैन संस्कृतिसे आप्लावित था, पूर्वी बङ्गालमें जैन प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालयके प्रो० गोस्वामीने मुझे बताया था कि पहाड़पुर-दिनाजपुरमें दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ निकली हैं वे प्राचीन कला-कौशलकी दृष्टिसे अध्ययनकी वस्तु हैं। (इन प्रतिमा-चित्रोंका प्रकाशन आ० स० इ० रि०में होचुका है)।

आज भी उस ओर जब कभी उत्खनन होता है तब जैनधर्मसे सम्बन्ध रखने वाली सामग्री निकलती ही रहती है; पुरातत्त्व-विभागवाले साधारण नोट कर इन्हें प्रकट कर देते हैं, वे बेचारे इन अवशेषोंकी विविधता और प्रसङ्गानुसार जो भव्यता है, किसके साथ क्या सम्बन्ध है आदि बातें ही आवश्यक साधनोंके अभावसे नहीं जान पाते हैं तो फिर करें भी तो क्या करें?

मेरे मित्र 'मोडर्नरिव्यु' के वर्तमान संपादक श्रीमान् केदारनाथ चट्टोपाध्याय, जो पुरातत्त्वके अच्छे विद्वान हैं, बता रहे थे कि उनके गाँव-बाँकुडाकी पहाड़ियोंमें बहुतसी जैन प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं जो रक्त पाषाणपर उत्कीर्णित हैं, इनके आगे वहाँकी जनता न जाने क्या-क्या करती है। पश्चिम बङ्गालमें सराकजातिके भाइयोंके जहाँ-जहाँपर केन्द्र हैं उनमें प्राचीन बहुतसी सुन्दर कलापूर्ण शिखरयुक्त मन्दिर-प्रतिमाएँ सैकड़ोंकी संख्यामें उपलब्ध हैं। इन अवशेषों को मैंने तो देखा नहीं परन्तु मुनि श्रीप्रभावविजयजी की कृपासे उनके फोटो अवश्य देखे, तबियत बड़ी प्रसन्न हुई। श्रीमान् ताजमलजी बोथरा—जो वर्तमान सराकजातिकी संस्थाके मन्त्री हैं—से मैं आशा करता हूँ कि वे सारे प्रान्तमें—जहाँ सराक बसते हैं—जहाँ कहीं भी जैन अवशेष हों उनके चित्र तो अवश्य ही लेलें। खोजकी दुनियासे यह स्थान कोसों दूर है। कई ऐसे भी हैं जो प्राचीन स्मारक रक्षा कानूनमें न होनेसे उनके नाशकी भी शीघ्र संभावना है।

मेदपाट-मेवाड़में भी कलाके अवतार-स्वरूप जैन मन्दिरोंकी संख्या बहुत बड़ी है, ये खासकर १४वीं शताब्दीकी बादकी तक्षणकलासे सम्बन्धित हैं। बड़े विशाल पहाड़ोंपर या तलहटीमें मन्दिर बने हैं जहाँ पर कहीं-कहीं तो जैनीके घरकी तो बात ही क्या की जाय मानवमात्र वहाँ है ही नहीं। ऐसे मन्दिरोंमेंसे लोग मूर्ति तो अवश्य ही उठा लेगये परन्तु प्रत्येक कमरोंमें जो लेख हैं उनकी सुधि आज तक किसीने नहीं ली। कहनेको तो विजयधर्मसूरिजीने कुछ लेख अवश्य ही लिये थे पर उन्होंने लेखोंके लेनेमें तथा प्रकाशनमें भी पक्षपातसे काम लिया, साम्प्रदायिक व्यामोहके कारण सर्व लेखोंका संग्रह भी वे न कर सके, पुरातत्त्वके अभ्यासीके लिये यह बड़े कलङ्ककी बात है।

अत्यन्त खेदकी बात है कि उपर्युक्त साधनोंपर न तो वहाँकी जैन जनताका समुचित ध्यान है और न वहाँकी सरकार ही कभी सचेष्ट रही है। अस्तु, अब तो प्रजातन्त्रीय राज्य है, मैं आशा करता हूं कि वहाँके लोकप्रिय मन्त्री इस ओर अवश्य ध्यान देंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मध्यप्रान्त और बरार छह वर्ष तक मेरे विहार का क्षेत्र रहा है, यहाँके पुरातत्त्वपर मैंने विशाल भारत १९४७ जुलाई, अगस्त, सितम्बर, नवम्बर, दिसम्बर आदि अङ्कोंमें कुछ लेख लिखे हैं। इनके अतिरिक्त लखनादौन, धुनसौर, कांकेर, बस्तर, पद्मपुर, आरङ्ग, पौनार, भद्रावती आदि प्रचीन स्थानोंमें यदि खुदाई करवाई जाय तो बहुत बड़ी निधि निकलनेकी पूर्ण सम्भावना है। इन सभी स्थानोंपर जैन प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। यवतमालकी जैन रिसर्च सोसाइटीके कार्यकर्ताओंका ध्यान मैं इन क्षेत्रोंपर आकृष्ट करता हूं। वे कमसे कम मध्यप्रान्त और बरारके जैन पुरातत्त्वपर अन्वेषणात्मक ग्रन्थ प्रस्तुत करें।

भारतीय जैन तीर्थ और मन्दिर आदिका केवल वास्तुकलाकी दृष्टिसे यदि अध्ययन किया जाय तो विदित हुए बिना न रहेगा कि तक्षणकलाके प्रवाहको जैनोंने कितना वेग दिया, पुरातन जैनोंका नैतिक जीवन कलाके उच्चातिउच्च सैद्धान्तिक रहस्योंसे ओत-प्रोत था, आज कलाकी उपासना स्वतन्त्ररूपसे करना तो रहा दूर परन्तु जो अवशेष निर्मित हैं उनको सँभालना तक असम्भव होरहा है। एक लेखकने ठीक ही लिखा है कि "इतिहास बनाने वाले व्यक्ति तो गये परन्तु उनकी कीर्ति-गाथाको एकत्रित करने वाले भी उत्पन्न नही होरहे हैं" जैन समाजपर उपर्युक्त पंक्ति सोलहों आना चरितार्थ होती है।

आजके गवेषणा-युगमें इनकी उपेक्षा करना अपनी जानबूझकर अवनति करना है। इनके प्रति अन्यथा भाव रखना ही हमारे पूर्वजोंका भयङ्कर अपमान है—उनकी कीर्तिलताकी अवहेलना है। सांस्कृतिक पतनसे बढ़कर संसारमें कोई पतन नहीं है। सुन्दर अतीत ही अनागतकालकी सुन्दर सृष्टि कर सकता है। गड़े मुर्दे उखाड़ना ही पड़ेगा, वे ही हमें आगामी युगके निर्माणमें मददगार होंगे। उनके मौनानुभवसे हमको जो उत्साह-प्रद प्रेरणाएँ मिलती हैं वे अन्यत्र कहाँ मिलेंगी? आज सारा विश्व अपनी-अपनी सभ्यताके गहनतम अध्ययनमें व्यस्त हैं। वहाँके विद्वान् एक-एक प्रस्तर खण्डको विशिष्ट पद्धतिसे देखते हैं। वे नहीं चाहते हैं कि हमारी सभ्यतासे सम्बन्धित कोई भी साधन हमारी दृष्टिसे वञ्चित रहे। कैसी खोजकी लगन? जब हम तो बड़े आनन्दसे बैठे हैं, विशाल सम्पत्तिका स्वामी जैन समाज भी आज अकिञ्चिन बनकर जीवन यापन करे यह उचित नहीं। जैनोंका तो प्रथम कर्तव्य है कि वे अपने कलात्मक खण्डोंको एकत्र करें या उनपर अध्ययन करें। मैं मानता हूँ आज जैन समाज के सामने बहुत-सी ऐसी समस्याएँ हैं जिनको सुलझाना, समयकी गति और शक्तिको देखना अनिवार्य है, परन्तु जो प्राचीन संस्कृतिके रङ्गमें रङ्गे हुए हैं उनको तो पुरातन अवशेषोंकी रक्षाका प्रश्न ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण और शीघ्रातिशीघ्र ध्यान देने योग्य है। यह युग सांस्कृतिक उत्थानका है। स्वतन्त्र भारतका पुनर्निर्माण होने जारहा है। ऐसे अवसरपर चुप बैठना—जबकि आजका वायु-मण्डल सर्वथा हमारे अनुकूल है—भारी अकर्मण्यता और पतनकी निशानी है। यों तो भारत सरकारने पुरातत्त्वकी खोजका एक स्वतन्त्र विभाग ही खोल रखा था, जिसके प्रथम अध्यक्ष जनरल कनिंघम ई० सन् १८६२में नियुक्त किये गये थे। इन्होंने और बादमें इसी पदपर आने वाले महानुभावोंने अपने गवेषणा—खुदाई—के समय जो जो जैन अवशेष उपलब्ध हुए और जिस रूपमें वे प्राप्त साधनोंके आधारपर उनका अध्ययन कर सके, उसी रूपमें यथासाध्य समझनेका प्रयास किया। इस विभागकी रिपोर्टमें जैन पुरातन अवशेषोंके चित्र और विवरण भरे पड़े हैं। कहीं विकृतियुक्त भी वर्णन है। डा० जैन्स बर्जेस, कर्नल टॉड, डा० बूलर, डा० भांडारकर (पिता-पुत्र) डा० गेरिनॉड, डा० गौ० हीरा० ओझा, मि० नरसिंहाचारियर, मुनि जिनविजयजी, और स्व० बाबू पूर्णचन्दजी नाहर आदि अनेकों पुरातत्त्व के पण्डितोंने जैन पुरातन अवशेषोंकी जो गवेषणा-कर आदर्श उपस्थित किया है वह आज भी अनुकरणीय है। पूर्व गवेषित साधनोंके आधारपरसे स्वर्गीय ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने "प्राचीन जैन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्मारक" नामक संग्रहात्मक ग्रन्थोंकी रचना की है। आज वह बिल्कुल अपूर्ण है। उसमें अनुकरणमात्र है, थोड़ासा भी यदि स्वकीय खोजसे काम लिया जाता तो काम अच्छा और पुष्ट होता। उन दिनों न तो जैनसमाजकी सार्वभौमिक रुचि थी और न एतद्विषयक प्रवृत्तिमें सहायता प्रदान करने वाले साधन ही सुलभ थे। आज सभी दृष्टिसे वायुमण्डल सर्वथा अनुकूल है। जो सामग्री नष्ट होचुकी है उनपर तो पश्चात्ताप व्यर्थ ही है, जो अवशिष्ट है उनका भी यदि समुचित उपयोग कर सकें तो सौभाग्य! "जगे तबसे ही प्रातःकाल सही"।

पूर्व पंक्तियोंमें सूचित किया जाचुका है कि जैन अवशेषोंका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। जहाँपर जङ्गलों में जो प्रतिमाएँ हैं उनका कला या धार्मिक दृष्टिसे कौन मूल्याङ्कन करे? वहाँ तो सुरक्षित रहना ही असम्भव है। मैंने कई जगहपर (C. P. में) मूर्तियोंका पाषाण अच्छा होनेसे लोगोंको कुल्हाड़ी और छुरे घिसते हुए देखा, कई स्थानोंपर तो उनके सामने अमानुषिक कार्य भी होते हैं। परम वीतराग परमात्मा अहिंसाके अवतार-सम प्रतिमाके सामने ग्रामीण लोग बलिदान तक करते देखे गये! जबलपुरवाला बहुरीबन्द इसका उदाहरण है। यदि स्वतन्त्ररूपसे गवेषणा करें तो ऐसे अनेकों उदाहरण मिल सकते हैं।

शब्दकोशोंके और पुरातत्त्वकी सीमाका गम्भीर अध्ययन करनेके बाद अवभासित होता है कि पुरातत्त्व एक ऐसा शब्द है जो अत्यन्त व्यापक अर्थको लिये हुए है, इतिहास आदिके निर्माणमें जिन्हीं-किन्हीं वस्तुओंकी—साधनोंकी—आवश्यकता रहती है वे सभी इसके भीतर सन्निविष्ट हैं, उन सभी साधनोंपर न तो प्रकाश डालनेका यह स्थान है न कुछ पंक्तियोंमें उन सबका समुचित परिचय ही कराया जा सकता है। वर्षोंकी साधनाके बाद ही वैसा करना सम्भव है। मैंने इस निबन्धमें अपना कार्य-प्रदेश बहुत ही सङ्कुचित रखा है। मुझसे यदि कोई पुरातत्त्वपर अध्ययन करने-करानेके सम्बन्धमें प्रश्न करे तो मैं तो यही सम्मति दूँगा कि जैनसमाजको सर्वप्रथम पुरातत्त्व के उस भागको लेना चाहिये जो तक्षणकलासे सम्बन्ध रखता हो, वही उपेक्षित विषय रहा है। क्योंकि इनकी संख्या भी सर्वाधिक है। मुझे स्पष्ट कर देना चाहियेकि अरक्षित अवशेषोंकी ओर ही केवल मेरा संकेत नहीं है मैं तो चाहता हूँ जो प्राचीन मन्दिर-प्रतिमाएँ आज आमतौरसे पूजा-अर्चनाके काममें आते हैं और कलापूर्ण हैं उनके उद्धारके लिये भी सावधान रहना अनिवार्य है। उद्धारका अर्थ कोई यह न लगा बैठें कि उनको नये सिरेसे बनवावें, परन्तु उन कलापूर्ण सम्पत्तियोंके सुन्दर फोटू ले लिये जायें, जिस समयकी कला हो उस समयकी ऐतिहासिक सामग्रीका उपयोग कर उनका अध्ययन कर फल प्रकाशित करवाया जाय, नष्ट होनेसे बचाया जाय, अर्थात् पुरातनताको प्रत्येक उपायसे बचाया जाय। जहाँपर मालूम हो कि यहाँपर खुदाई करानेसे जैनमन्दिर या अवशेष निकलेंगे वहाँपर भी भारत सरकारके पुरातत्त्व विभागसे खुदाई करवानी चाहिये, आर्थिक सहायता करनी चाहिये।

क्योंकि सरकार तो समस्त भारतके लिये सीमित अर्थ व्यय करती है। अतः इतने विशाल कार्यका उत्तरदायित्व केवल गवर्नमेण्टपर छोड़कर समाजको निश्चेष्ट न होना चाहिये। सरकार आपकी है। अपने कर्तव्यसे समाजको च्युत न होना चाहिये। सारे समाजमें जबतक पुरातत्त्वान्वेषणकी क्षुधा जागृत नहीं होती तबतक अच्छे भविष्यकी कल्पना कमसे कम मैं तो नहीं कर सकता। अतीतको जाननेकी प्रबल आकांक्षा ही को मैं अनागतकालका उन्नतरूप मानता हूँ। कलकत्ताके विहारमें मैंने केवल एक बाबू छोटेलालजी जैनको ही देखा जो जैन पुरातत्त्व विशेषतः राजगृही आदि जैन प्राचीन स्थानोंकी खुदाई और अन्वेषणके लिये तड़फते रहते हैं। वे स्वयं भी न केवल पुरातत्त्वके प्रेमी हैं अपितु विद्वान् भी हैं। वे वर्षोंसे स्वप्न देखते आये हैं कब जैन पुरातत्त्वका संक्षिप्त इतिहास तैयार हो, दौड़ते भी वे खूब हैं पर अकेला आदमी कर ही क्या सकता है?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक व्यक्तिको इस बातका सदैव स्मरण रखना चाहिये कि जिस विषयपर उसकी रुचि हो या जिसे वह अध्ययन करना चाहे उसे सबसे पहले तदनुकूल मानसिक पृष्ठभूमि तैयार करनी होगी जो विषयके आन्तरिक तत्त्वोंको हृदयङ्गम करनेमें सहायक प्रमाणित हो सकें। पुरातत्त्वके अध्ययनको चलती भाषामें पत्थरोंसे सर फोड़ना या "गड़े मुर्दे उखाड़ना" कह सकते हैं। पर हृदय कोमल और भावुक चाहिये। यह जाल—चाहे आप रुचि कह लें—ही ऐसा विलक्षण है कि इसमें जो फँसता है वह इस जीवनमें तो नहीं निकल सकता, वह साधना ही बड़ी कठोर और भीषण श्रम साध्य है। पाषाण जगतके खण्डोंमें सदैव रत व्यक्तियोंका मानसिक अध्ययन करेंगे तो मालूम होगा मानो विश्वके बहुतसे तत्त्वोंका यहीं समीकरण हुआ है।

पुरातन शिल्प और कलाके आभ्यन्तरिक मर्मको जाननेके लिये वर्तमानमें निम्न बातोंपर ध्यान देना अनिवार्य है। मैं ऊपर ही कह आया हूँ मेरा क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है। भारतीय जैन शिल्पका अध्ययन तब तक अपूर्ण रहेगा जबतक वास्तुकलाके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंपर विकासात्मक प्रकाश डालने वाले साहित्यकी विविध शाखाओंका यथावत् अध्ययन न किया जाय; क्योंकि तक्षणकला और उसकी विशेषता में परस्पर साम्य होते हुए भी प्रान्तीय भेद या तात्कालिक लोकसंस्कृतिके कारण जो वैभिन्न पाया जाता है एवं उस समयके लोक जीवनको शिल्प कहाँ तक समुचिततया व्यक्त कर सका है। उस समयपर जो वास्तुकला विषयक ग्रन्थ पाये जाते हैं उनमें जिन जिन शिल्पकलात्मक कृतियोंके निर्माणका शास्त्रीय विधान निर्दिष्ट है उनका प्रवाह कलाकारोंकी पैनी छैनी द्वारा प्रस्तरोंपर परिष्कृतरूपमें कहाँ तक उतरा है? यहाँ तक कि शिल्पकला जब तात्कालिक संस्कृतिका प्रतिबिम्ब है तब उन दिनोंका प्रतिनिधित्व क्या सचमुच ये शिल्प कृतियाँ कर सकती हैं? आदि अनेक महत्वपूर्ण तथ्योंका परिचय तलस्पर्शी अध्ययन और मननके बाद ही सम्भव है। जैन अवशेषोंको समझनेके लिये सारे भारतवर्षमें पाये जाने वाले सभी श्रेणीके अवशेषोंका अध्ययन भी अनिवार्य है क्योंकि जैन और अजैन शिल्पात्मक कृतियोंका सृजन जो कलाकार करते थे वे प्रत्येक शताब्दीमें आवश्यक परिवर्तन करते हुए एक धारामें बहते थे, जैसा कि वास्तुकलाके अध्ययनसे विदित हुआ है। प्रान्तीय कलात्मक अवशेषोंको ही लीजिये उनमें साम्प्रदायिक तत्त्वोंका बहुत ही कम प्रभाव पायेंगे, परन्तु शिल्पियोंकी परम्परा जो चलती थी वह अपनी कलामें दक्ष और विशेषरूपसे योग्य थी। मध्यकालके प्रारम्भिक जो अवशेष हैं उनको बारहवीं शतीकी कृतियोंसे तोलें तो विहार, मध्यप्रान्त और बङ्गालकी कलामें कम अन्तर पाएँगे। मैंने कलचूरी और पालकालीन जैन तथा अजैन प्रतिमाओंका इसी दृष्टिसे संक्षिप्तावलोकन किया है उसपरसे मैंने सोचा है १०-१२ तक जो धारा चली वही तीर्थ प्रान्तोंको लेकर चली थी अन्तर था तो केवल बाह्य आभूषणोंका ही—जो सर्वथा स्वाभाविक है। कथनका तात्पर्य यह है कि एक परम्परामें भी प्रान्तीयकला भेदसे कुछ पार्थक्य दीखता है। प्राचीन लिपि और उनके क्रमिक विकासका ज्ञान भी विशेषरूपसे अपेक्षित है। मूर्तिविधानके अनेक अङ्गोंका अध्ययन ठोस होना अत्यन्त आवश्यक है। इतिहास और विभिन्न राजवंशोंके कालोंमें प्रचलित कलात्मक शैली आदि अनेक विषयोंका गम्भीर अध्ययन पुरातत्त्वके विद्यार्थियों को रखना पड़ता है। क्योंकि ज्ञानका क्षेत्र विस्तृत है। यह तो सांकेतिक ज्ञान ठहरा। उपर्युक्त पंक्तियोंको छोड़कर अन्य व्यक्तियोंकी जानकारी भी अपेक्षित है।

शिल्पकी आत्मा वास्तुशास्त्रमें निवास करती है। परन्तु जैन शिल्पका यदि अध्ययन करना हो तो हमें बहुत कुछ अंशोंमें इतर साहित्यपर निर्भर रहना पड़ेगा, कारण कि जैनोंने जो शिल्पकलाको प्रस्तरों पर प्रवाहित करने-करानेमें जो योगदान दिया है उसका शतांश भी साहित्यिकरूप देनेमें दिया होता तो आज हमारा मार्ग स्पष्ट और स्थिर हो जाता,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रसङ्गानुसार कुछ उल्लेख आते हैं जिनका सम्बन्ध शिल्पके एक अङ्ग-प्रतिमाओंसे है। यक्ष-यक्षिणी आदि की मूर्तियोंके निर्माणपर उनके आयुधोंपर कुछ प्रकाश डालने वाले "निर्वाणकलिका" जैसे ग्रन्थ हैं पर वे अपूर्ण ही कहे जा सकते हैं, जो कुछ हैं वे उस समय के हैं जबकि जैनसमाज शिल्पकलाकी साधनासे विमुख होचुका था या उसमें रुचिका अभाव था। ठक्कुर[1] फेरूने "वास्तुसार प्रकरण" अवश्य ही निर्माण किया है। प्रतिष्ठादिके साहित्यमें उल्लेख आये हैं पर सार्वभौमिक उपयोगिता नहींके बराबर है। अतः जैनोंको अपने अवशेषोंका अध्ययनकर प्रकाश में लानेमें जरा कष्टका सामना करना पड़ेगा, साहित्य के अभावमें अवशेषोंसे ही शिल्पकलाका प्रकाश लेकर इसी प्रकाशसे अन्याय अवशेषोंकी गवेषणा करनी होगी, काम कठिन अवश्य है पर उपेक्षणीय भी तो नहीं है। श्रमजीवी और बुद्धिजीवी मानव-विद्वान ही इन समस्याओंको सुलझा सकते हैं[2]।

१ ठाकुर जैनसमाजके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थकार इतिहास प्रेमी सज्जनोंके प्रथमश्रेणीमें आते हैं इनके जीवन और कार्यके लिये देखें "विशाल भारत," मई-जून सन् १९४७।

२ परिस्थितियोंपर विचार करनेके बाद यह प्रश्न तीव्रता-से उठता है कि जैन शिल्पकलाका इतिहास क्यों नहीं? जब प्रतीक मौजूद हैं तो इतिवृत्त अवश्य चाहिये। जैन विद्वानोंको गम्भीरतासे सोचकर एक ऐसी समिति नियुक्त कर देनी चाहिये, जो इसका अनुशीलन प्रारम्भ कर दे। इलाहाबाद विश्वविद्यालयके अध्यापक डा० प्रसन्नकुमार आचार्य और पटना वाले डा० विद्यापद भट्टाचार्य भारतीय शिल्प स्थापत्यकला और एतद्विषयक साहित्यके गम्भीर विद्वान् है; इनसे भी लाभ उठाना चाहिये।

आज भी गुजरात-काठियावाड़में सोमपुरा नामक एक जाति है जिसका प्रधान कार्य ही शास्त्रोक्त शिल्प-विद्याके संरक्षण एवं विकासपर ध्यान देना है। ये प्राचीन जैन शिल्प स्थापत्यके भी विद्वान् और क्रियात्मक अनुभवी हैं। इन लोगोंकी मददसे एक आदर्श जैन शिल्पकला-सम्बन्धी ग्रन्थ अविलम्ब तैयार हो ही जाना चाहिये। इसमें इन बातोंका ध्यान रखा जाना अनिवार्य है कि जिन जिन प्रकारके शिल्पोल्लेख साहित्यमें आए हैं वे पाषाणपर कहाँ कैसे और कब उतरे हैं, इनका प्रभाव विशेषतः किन किन प्रान्तोंके जैन अवशेषोंपर पड़ा है, बादमें विकास कैसे हुआ, अजैनसे जैनोंने और जैनसे अजैन कलाकारोंने क्या लिया दिया आदि बातों-का उल्लेख सप्रमाण, सचित्र होना चाहिये। काम निःसंदेह श्रमसाध्य है पर असम्भव नहीं है, जैसा कि अकर्मण्य मान बैठते हैं।

जैन तक्षण कलावशेषोंको अध्ययनकी सुविधाके लिये, निम्न भागोंमें बाँट दें तो अनुचित न होगाः—

१ मन्दिर, २ गुफाएँ, ३ प्रतिमाएँ—(प्रस्तर धातु और काष्ठकी), ४ मानस्तम्भ, ५ अभिलेख—(शिलालेख व प्रतिमालेख), ६ फुटकर।

१ मन्दिर—

किसी भी आस्तिक सम्प्रदायके लिये उसका अपना आराधना-स्थान होना बहुत आवश्यक है, जहाँपर आध्यात्मिक साधना की जासके।

जैनसमाजने पूर्वकालमें पर्याप्त मन्दिरोंका निर्माण बड़े उत्साह पूर्वक किया, जिनमेंसे कुछ तो भारतीय तक्षणकलाके उत्कृष्टतम नमूने हैं। इन मन्दिरोंकी रचना-पद्धति अन्य सम्प्रदायोंकी आराधना-स्थानोंकी अपेक्षासे बहुत ही उन्नत और आंशिकरूपमें स्वतन्त्र भी है। भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें मन्दिर पाये जाते हैं वे अपनी पृथक्-पृथक् विशेषता रखते हैं। इनके निर्माणका हेतु भी अत्यन्त व्यापक था, वास्तुशास्त्रमें आया है धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी साधनाके लिये मन्दिरोंकी सृष्टि होती है। यह सिद्धान्त इतर मन्दिरोंपर सोलहों आना चरितार्थ होता है, परन्तु हाँ, प्राचीन जैन मन्दिरोंके अवलोकनसे विदित होता है कि जैनोंने इनको लोकभोग्य—आकर्षक—बनानेका भरसक प्रयास किया था, मन्दिरोंके बाहरके भागमें जो पंक्तिबद्ध अलंकरण एवं शिखरके निम्न भागमें जो भिन्न-भिन्न शिल्पके स्थान हैं उनमें तात्कालिक लोक जीवनके तत्त्व कहीं-कहीं खोदे गये हैं। शिखर निर्माणकलाको तो जैनोंकी मौलिक देन कहें तो कुछ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अंशोंमें अनुचित नहीं। पश्चिम भारतके प्रायः तमाम मन्दिरोंके शिखर एक ही पद्धतिके हैं। अन्य प्रान्तोंमें वहाँके प्रान्तीय तत्त्वोंका प्रभाव है। गर्भगृह, नव-चौकी, सभामण्डप आदिमें अन्तर नहीं, परन्तु मन्दिरमें गर्भगृहके अग्रभागमें सुन्दर तोरण, स्तम्भ एवं तदुपरि विविधवाद्यादि सङ्गीतोपकरण धारक पुतलियाँ, उनका शारीरिक गठन, अभिनय, आभूषण तथा शिखरके ऊपरके भागमें जो अलङ्करण हैं उनमें प्रान्तीय कलाका प्रभाव पाया जाना सर्वथा स्वाभविक है। जैनमन्दिरोंके निर्माणका सब अधिकार सोमपुराओंको था, वे आज भी प्राचीन पद्धतिके प्रतीक हैं, जिनमें भाई शङ्कर भाई और प्रभाशङ्कर भाई, नर्मदाशङ्कर आदि प्रमुख हैं। पं० भगवानदास जैन भी शिल्पविद्याके दक्ष पुरुषोंमें हैं। आबू, जैसलमेर, राणकपुर, पालिताना, खजुराहा, देवगढ़ और श्रवण-बेल्गोला, जैनकाञ्ची, पाटन आदि अनेक नगरोंके मन्दिर स्थापत्यकलाके मुखको उज्ज्वल करते हैं। आबूके तोरण-स्तम्भ और मधुच्छत्र भारतमें विख्यात हैं। मध्यकालीन जैन शिल्पकलाके विकासके जो उदाहरण मिले हैं उनमें अधिकांश जैनमन्दिर ही हैं। इनके क्रमिक इतिहासपर प्रकाश डालने वाला एक भी ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ, जिससे अजैनकला-प्रेमी भी जैनकलासे लाभान्वित होसकें। यह इतिहास तैयार होगा तब बहुतसे ऐसे तत्त्व प्रकाशमें आवेंगे जो आज तक वास्तुकलाके इतिहासमें आये ही नहीं। न जाने उस स्वर्ण दिनका कब उदय होगा?

कलकत्ता-विश्वविद्यालयकी ओरसे हाल हीमें "हिन्दु टेम्पिल" नामक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ दो भागोंमें प्रकाशित हुआ है जिसे एक हंगेरियन स्त्री डॉ० स्टेलाक्रेमशीशने वर्षोंके परिश्रमसे तैयार किया है। इसमें भारतवर्षके विभिन्न प्रान्तोंमें पाये जाने वाले प्रधानतः हिन्दूमान्य मन्दिर, उनका वास्तुशास्त्र की दृष्टिसे विवेचन, मन्दिरोंमें पाई जाने वाली अनेक शिल्पकृतियोंके जो चित्र प्रकाशित किये हैं वे ही उन की महत्ताके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। मैंने अपनी परिचिता डॉ० स्टेलाक्रेमशीशसे यों ही बातचीतके सिलसिलेमें कहा कि आपका कार्य त्रुटिपूर्ण है क्योंकि इनमें जैन मन्दिरोंकी पूर्णतः उपेक्षा कीगई है जो कलाकौशलमें किसी दृष्टिसे प्रकाशित चित्रोंसे कम नहीं पर बढ़कर हैं। वह कहने लगी मैं करूँ क्या मुझे जो सामग्री मिली है उसके पीछे कितना श्रम करना पड़ा है आप जानते हैं।

मैं तो बहुत ही लज्जित हुआ कि आजके युगमें भी हमारा समाज संशोधकको न जाने क्यों घृणित दृष्टिसे देखता है। मेरे लिखनेका तात्पर्य इतना ही है कि हमारी सुस्ती हमें ही बुरी तरह खाये जारही है, इससे तो दुःख होता है। न जाने आगामी सांस्कृतिक निर्माणमें जैनोंका जैसा योगदान रहेगा, वे तो अपने ही इतिहासके साधनोंपर उपेक्षित मनोवृत्ति रक्खे हुए हैं। जैन मन्दिरोंमेंसे जो भरतीय शिल्प और वास्तु-कलाकी दृष्टिसे अनुपम मन्दिर हैं उनका एक आल्बम तैयार होना चाहिए जिसमें मन्दिर और उनकी कला के क्रमिक विकासपर आलोक डालने वाला विस्तृत प्रास्ताविक भी हो।

२ गुफाएं—

जिस प्रकार मन्दिरोंकी संख्या पाई जाती है उतनी गुफाओंकी संख्या नहीं है गुफाओंको यदि कुछ अंशोंमें मन्दिरोंका अविकसितरूप मानें तो अनुचित नहीं, यह रामटेक, चाँदवड, एलोरा, ढङ्क आदि पर्वतोत्कीर्ण गुफाओंसे प्रमाणित होता है। इनका इतिहास तो पूर्णान्धकाराच्छन्न है, जो कुछ गजेटियर्स और आँग्ल पुरातत्त्ववेत्ताओंने लिखा है उसीपर आधार रखना पड़ता है। इनमें एक भूल यह होगई है कि बहुसंख्यक जैन गुफाएँ बौद्धस्थापत्यावशेषोंके रूपमें आज भी मानी जाती हैं। उदाहरणके लिये राजगृहस्थित रोहिणेयकी ही गुफा लीजिये, जो पाँचवें पहाड़पर अवस्थित है। जनता इसे "सप्तपर्णी गुफा" के रूपमें पहचानती है आश्चर्य तो इस बात का है कि पुरातत्त्व विभागकी ओरसे बोड भी वैसा ही लगा है। और भी ऐसे अनेक जैन सांस्कृतिक प्रतीक मैंने देखे हैं जो इतर सम्प्रदायोंके नाम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से सम्बद्ध हैं[१]।

गुफाओंका निर्माण जिन विशेष परिस्थितियोंमें किया गया था वे तत्त्व ही आज विलुप्तप्राय हैं। आध्यात्मिक साधनाके उन्नत पथपर अग्रसर होने वाली भव्यात्माएँ यहाँपर निवास कर, दर्शनार्थ आकर अपूर्व शान्तिका अनुभव कर आत्मिकतत्त्वके रहस्य तक पहुँचनेका शुभ प्रयास करती थीं, प्राकृतिक वायुमण्डल भी पूर्णतः उनके अनुकूल था, स्वाभाविक शान्ति ही चित्तवृत्तियोंको स्थिरकर एक निश्चित मार्ग की ओर जानेके लिये इंगित करती है। इनमें उत्कीर्णित विशालकाय ध्यानावस्थित जिन-प्रतिमाएँ प्रत्येक दर्शनार्थीको एक बहुत बड़ा अनुपम सौंदर्य देती हैं, राग, द्वेष, मद, प्रमाद तथा आत्मिक प्रवञ्चनाओंसे बचनेके लिये, शून्यध्यानमें विरत होनेमें जो साहाय्य देती हैं वह अन्यत्र कहाँ? कुछ गुफाएँ तो अनेक जिनमूर्ति एवं तदङ्गीभूत समस्त उपकरणोंसे सुसज्जित दृष्टिगोचर होती हैं जिनको देखनेसे अवभासित होता है कि मानो यहाँ शिल्पकला उन कलाकारोंकी जीवित छैनीका तीव्र परिचय कराती है कथनका तात्पर्य यह कि मानवोंके दैनिक जीवन और उनके प्रति औदासीन्यभावोंकी प्रेरणात्मक जागृति कराने वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वोंका समीकरण दृष्टिगोचर होता है। मानवके उन्नत मस्तिष्कके चरम विकासका जीवन प्रतीक हमें वहाँ दीखता है।

इन गुफाओंके दो प्रकार किसी समय रहे होंगे या एक ही गुफामें दोनोंका समावेश हुआ होगा, कारण कि जैनोंका सांस्कृतिक इतिहास हमें बताता है कि पूर्वकालमें जैनमुनि अरण्यमें ही निवास करते थे केवल भिक्षार्थ—गोचरीके लिये—ही नगरमें पधारते थे। ऐसी स्थितिमें लोग व्याख्यानादि औपदेशिक वाणीका अमृतपान करनेके लिये जङ्गलोंमें जाया करते थे जैसाकि पौराणिक जैन आख्यानोंसे विदित होता है जिनमन्दिरकी आत्मा—प्रतिमाएँ भी नगरके बाहिर गुफाओंमें अवस्थित रहा करतीं थीं। ऐसी स्थितिमें सहजमें कल्पना जागृत हो उठती है कि या तो दोनोंके लिये स्वतन्त्र स्थान रहे होंगे या एक हीमें दोनोंके लिये पृथक्-पृथक् स्थान रहे होंगे, मैंने कुछ गुफाएँ ऐसी देखी भी हैं। प्राचीन मन्दिरके नगर बाहर बनाए जानेका भी यही कारण है। मेवाड़ादि प्रदेशोंमें जो जैन मन्दिर जङ्गलोंमें बहुत बड़ी सख्यामें उपलब्ध होते हैं वे गुफाओंकी पद्धतिके अवशेषमात्र हैं। वहाँ ताला वगैरह लगानेकी आवश्यकता ही क्या थी? क्योंकि वहाँ न तो आभूषण थे और न वैसी संपत्ति के लूटे जानेका ही कोई भय था, यह प्रथा बड़ी सुन्दर और सर्व लोगोंके दर्शनके लिये उपयुक्त थी। आज दशा भिन्न है। यही कारण है कि आज निवृत्ति प्रधान जैन संस्कृतिका प्रवाह रुक-सा गया है।

प्राचीन गुफाओंमें उदयगिरी खण्डगिरी, अइहोल सित्तन्नवासल्ल ······ ······ चाँदवाड़, रामटेक, एलूरा। इन गुफाओंसे मानना होगा कि दशम शती तक सात्विक प्रथाका परिपालन होता था) ढङ्कगिरी, जोगीमारा, गिरनार आदि विभिन्न प्रान्तोंमें पाई जाने वाली अति प्राचीन और भारतीय तक्षणकलाकी उत्कृष्ट मौलिक सामग्री है। गुफाओंके सौन्दर्य अभिवृद्धि करनेके ध्यानसे जोगीमारा, सित्तन्नवासल्ल आदि में चित्रोंका अङ्कन भी किया गया था, इन भित्तिचित्रोंकी परम्पराको मध्यकालमें बहुत बड़ा बल मिला, भारतीय चित्रकला विशारदोंका तो अनुभव है कि आज तक किसी न किसी रूपमें जैनोंने भित्तिचित्र परम्पराके विशुद्ध प्रवाहको आज तक कुछ अंशतक सुरक्षित रखा है।

ता० ८-३-४८को शान्तिनिकेतनमें कलाभवनके आचार्य और चित्रकलाके परम मर्मज्ञ श्रीमान् नन्दलालजी बोसको मैंने अपने पासकी हस्तलिखित जैन सचित्र कृतियाँ एवं बड़ौदा निवासी श्रीमान् डॉ०

१ राजगृहमें शालिभद्रका एक सुन्दर विशाल 'निर्माल्यकूप' है जिसे आजकल "मणिमारमठ" कहते हैं। मणिनाग नामक कोई बौद्ध महन्त थे, अतः उनके नामके साथ यह प्राचीन स्मारक जुड़ गया, सांस्कृतिक पतनका इससे बढ़ कर और क्या उदाहरण मिल सकता है। भारतमें ऐसे स्मारक बहुत हैं, विद्वान लोग प्रकाश डालें। मुगलकाल की मस्जिदें पूर्वमें जैन मन्दिर थे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मंजूलाल भाई मजूमदार-द्वारा प्रेषित दुर्गासप्तशतीके मध्यका तीन चित्र बतलाये, उन्होंने देखते ही इनकी कला और परम्परापर छोटासा व्याख्यान दे डाला जो आज भी मेरे मस्तिष्कमें गुञ्जायमान होरहा है। उसका सार यही था कि इन कलात्मक चित्रोंपर एलोराकी चित्र और शिल्पकलाका बहुत प्रभाव है। जैन-शैलीके विकासात्मक तत्त्वोंका मूल बहुत अंशोंमें एलोरा ही रहा है। चेहरे और चक्षु तो सर्वथा उनकी देन है। रङ्ग और रेखाओंपर आपने कहा कि जिन-जिन रङ्गोंका व्यवहार एलोराके चित्रोंमें हुआ है वे ही रङ्ग और रेखाएँ आगे चलकर जैन-चित्रकलामें विकसित हुई। यह तो एक उदाहरण है इसीसे समझा जा सकता है कि जैन-चित्रकलाकी दृष्टिसे भी इन स्थापत्यावशेषोंका कितना बड़ा महत्व है जिनको हम भूलते चले जारहे हैं।

ज्यों-ज्यों सामाजिक और राजनैतिक समस्याएँ खड़ी होती गईं या स्पष्ट कहा जाय तो विकसित होती गईं त्यों-त्यों पर्वतोंमें गुफाओंका निर्माण कम होता गया और आध्यात्मिक शान्तिप्रद स्थानोंकी सृष्टि जनावास—नगरों—में होने लगी। इतिहास इसका साक्षी है। मेरा तो वैयक्तिक मानना है कि इससे हमारी क्षति ही हुई, स्थानोंकी अभिवृद्धि अवश्य ही हुई परन्तु वह आत्मविहीन शरीरमात्र रह गई। प्रकृतिसे जो सम्बन्ध स्थापित था वह रुक गया, जो आनन्द कुटियामें—जहाँ आवश्यकताओंकी कमी पर ही ध्यान दिया जाता था—है वह महलोंमें कहाँ? स्व० महात्माजीका निवास इसका प्रतीक है। शान्ति-निकेतनमें मैंने महात्माजीका निवास स्थान देखा, दूर से विदित होता है मानो कोई गुफा बनी हुई है, भीतरी व्यवस्था भी पूर्व स्मृतिका स्मरण करा देती है।

उपर्युक्त पंक्ति कथित (?) साधन हमारी संस्कृति के वास्तविक रूपको प्रकट करते हैं। भारतीय स्थापत्यकलाका चरम विकास उन्हींमें अन्तर्निहित है। परन्तु जैनोंने अपनी इस निधिको आजतक उपेक्षित वृत्तिसे देखा। मैं तो चाहता हूँ अब समय आगया है इन गुफाओंका विस्तृत अध्ययन कर उनकी शिल्पकलापर विस्तृत विवेचनात्मक प्रकाश डालनेवाला विवरण एवं महत्वपूर्ण भागोंके चित्र देकर एक ग्रन्थ प्रकाशित किया जाना चाहिए। यह इतिहास हमारी संस्कृतिके महत्वपूर्ण अङ्ग जो देवस्थान, मुनिस्थान हैं उनके विकासपर बहुत बड़ा प्रकाश डालेगा। भारतीय पुरातत्त्व-विभागके डिप्टी डायरेक्टर जनरल श्रीमान् हरगोविन्दलाल श्रीवास्तव जैन-गुफाओंपर काम करनेवाले जैन विद्वानोंकी खोजमें हैं वे हर तरहसे सहायता प्रदान करनेको कटिबद्ध भी हैं, जैनोंको ऐसा सुअवसर हाथसे न जाने देना चाहिए। अस्तु।

३ प्रतिमाएं—निम्न उपविभागोंमें विभाजितकी जा सकती हैं:—

(अ) तीर्थंकरोंकी प्रस्तर प्रतिमाएँ
(आ) तीर्थंकरोंकी धातु प्रतिमाएँ
(इ) तीर्थंकरोंकी काष्ठ प्रतिमाएँ
(ई) यक्ष-यक्षिणीकी प्रतिमाएँ
(उ) फुटकर

(अ) प्रथम भागको हम अपनी अधिक सुविधा के लिये दो उपभागोंमें बाँटेंगे।

१ मथुराकी प्रतिमाओंसे लगाकर १०वीं शती तक की समस्त पाषाण प्रतिमाएँ एवं आयाग पट्ट मिले हैं उनका महत्व सर्वोपरि है। प्राप्त जैन प्रतिमाओंमें यहाँके कंकाली टीलेमे प्राप्त प्रतिमाएँ एवं अन्य जैनावशेष सर्व प्राचीन हैं। मूर्तिका आकार-प्रकार भी अच्छा ही है। गुप्तोंके समयमें मूर्ति निर्माणकलाकी धारा तीव्रगतिसे प्रवाहित होरही थी। बौद्धोंने इससे खूब लाभ उठाया, क्योंकि उस समयका वायुमण्डल अनुरूप था। नालंदाको अभी ही गत मास मुझे देखनेका सुअवसर प्राप्त हुआ था, यहाँपर जो जैन प्रतिमाएँ अवस्थित हैं वे मथुराके बाद बनने वाली प्रतिमाओंमें उच्च हैं, गुप्तकालीन कलाका प्रभाव उनपर बहुत अधिक पड़ा है। इनके सम्मुख घण्टों बैठे रहिए मन बड़ा प्रसन्न होकर आध्यात्मिक शक्तिका अनुभव करने लगता है। शुभ परिणामोंकी धारा बहने लगती है। अनेकों सात्विक विचार और परम वीतराग परमात्माके जीवनके रहस्यमय तत्त्व मस्तिष्कमें

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चक्कर लगाते रहते हैं। विहार प्रान्त प्राचीन जैन प्रतिमाओंका विशाल केन्द्र रहा मालूम होता है। कुण्डलपुर, राजगृह, विहार, पटना, लछवाड़ आदि कुछ नगरोंमें मैंने प्राचीन और प्रायः एक ही पद्धतिकी २५-३० प्रतिमाएँ (गुप्त और अन्तिम गुप्तकालीन) देखी हैं। इनपरसे मेरा तो मत और भी दृढ़ होगया है कि भारतमें जैन और बौद्ध दो ही ऐसे लोक कल्याणकारी सम्प्रदाय हैं जिनकी प्रतिमाओंके सामने बैठनेसे अत्यधिक आनन्दका अनुभव होता है। विशुद्ध भावोंकी सृष्टि होती है। अद्भुत प्रेरणा मिलती है।

उपर्युक्त कालकी जो देखनेमें प्रतिमाएँ आई उनपर लेख बहुत ही कम मिलते हैं, जो हैं वे बौद्धमोटो "ये धम्मा" हैं, कारण कि १०वीं शती पूर्व वैसी प्रथा ही कम थी। लाच्छन भी सम्भवतः नहीं मिलते, केवल पार्श्वनाथ ऋषभदेव (केशावली और कभी-कभी वृषभका चिह्न कहीं मिल जाता है) इन तीर्थंकरोंके चिह्न तो मिलते हैं पर अन्य नहीं मिलते, परन्तु लाँछन स्थानपर दोनों मृगोंके बीच "धर्मचक्र" मिलता है जिसे बहुतसे लोग सुन्दर कमलाकृति समझ बैठते हैं।

एक दृष्टिसे जैन प्रतिमाओंका यह मौलिक चिह्न है। यह जैन धर्मका प्रधान और परम पवित्र प्रतीक है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव स्वामीजीने इसकी प्रवर्तनाकी थी और बादमें ईस्वी पूर्व ३-४ शदीमें जैनोंसे बौद्धोंने इस चिह्नको अपना लिया, अशोकने इसे जिन शिल्प स्थापत्योंमें स्थान दे दिया वे प्रकाशमें आगये और जैन अवशेष दबे पड़े रहे, अतः पुरातत्व विभाग और भारत सरकारके प्रधान कार्यकर्ताओंने इसे अशोककी मौलिक कृत्ति मानकर राष्ट्रध्वजपर भी स्थान दे दिया, निष्पक्षपात मनोभावोंसे यदि देखें तो मानना होगा कि धर्मचक्र जैन संस्कृतिकी मुख्य वस्तु है। इसका प्रधान कारण यह भी है कि गुप्त या अन्तिम गुप्तकालके अनन्तर भी प्रतिमाओंमें और विशेषकर धातुकी मूर्तियोंमें धर्मचक्रका बराबर स्थान रहा है। हजारों प्रतिमाएँ इसके उदाहरण स्वरूप उपस्थितकी जा सकती हैं। कहीं-कहीं तो आधा भाग ही है। जैनोंकी बेदरकारीके कारण न जाने संस्कृति को कितना नुक्सान उठाना पड़ेगा, इस बातका अनुभव जैनोंको करना चाहिए।

मुझे यहाँपर बिना किसी अतिशयोक्तिके साथ कहना चाहिए कि उपर्युक्त वर्णित जैन-प्रतिमाएँ गुप्तकालीन बौद्ध मूर्तियोंसे संतुलित की जा सकती हैं। इस युगमें प्रतिमाएँ एक पाषाणपर उत्कीर्णकर चारों ओर काफी रिक्त स्थान छोड़ दिया जाता था। इस युगकी जो प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं उनमें श्वेताम्बर दिगम्बरका कोई भेद भी पाया नहीं जाता, मालूम होता है ज्यों-ज्यों साम्प्रदायिकता बढ़ी त्यों-त्यों शिल्पमें विकृति आने लगी।

२ इस विभागमें वे मूर्तियाँ रखी जा सकती हैं जो १०वीं शताब्दीकी हैं। उत्तरकालमें २०० वर्षोंतक तो कलाकारोंके हृदय, मस्तिष्क और हाथ बराबर कलात्मक सृजनमें लगे रहे, पर बादमें तो केवल हाथ ही काम करते रहे। न मस्तिष्कमें विविध उदात्तभाव रहे न हृदय ही सात्विक था और न उनके अस्त्रोंमें वह शक्ति रह गई थी जो सजीव आकृति निर्मित कर सके। ऐसी स्थितिमें कला-कौशलकी धारा शुष्क हो गई, यही कारण है कि बादकी अधिकांश मूर्तियाँ कला-विहीन और भद्दी मालूम देती हैं। हाँ! कलचूरी, पाल, गङ्ग और चालुक्यों आदिके शासन-कालके कुछ अवशेष ऐसे हैं जिनके दर्शनसे कला-समीक्षक सन्तुष्ट हो सकता है। १३वीं शतीके अनन्तर मूर्तियाँ प्रायः धार्मिक दृष्टिसे ही महत्वकी रहीं, कलाकी दृष्टिसे नहीं। मुझे इसके दो प्रधान कारण मालूम होते हैं। प्रत्येक राष्ट्रकी राजनीतिका प्रभाव भी उसकी सभ्यता और संस्कृतिके विकासमें महत्वका भाग रखता है। १३वीं शतीके बाद भारतकी राजनैतिक स्थिति और विशेषकर जहाँ जैनोंका अधिकांश भाग रहता था वहाँकी तो स्थिति अत्यंत भीषण थी। विदेशी आक्रमण प्रारम्भ होगये थे, जान-मालकी चिन्ता जहाँ सवार हो वहाँ कलात्मक सृजनपर कौन ध्यान देता है? ऐसी स्थितिमें पाषाणकी प्रतिमाकी अपेक्षा लघुतम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धातु-मूर्तियोंका निर्माण अधिक होने लगा जो गृहमें भी आसानीसे रखी जा सकती हैं। दसवीं शतीके बादकी प्रतिमाएँ आजतक बहुत ही कम प्रकाशमें आई हैं। मध्यप्रान्तमें जबलपुर, धुनसौर, सिवनी आदि नगरोंमें इस युगकी प्रतिमा-सामग्री है। १६वीं शताब्दीमें जीवराज पापड़ीवालने तो गज़ब ढा दिया, हजारों प्रतिमाएँ तो आजतक मैं देख चुका हूँ। इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ तो दूरसे ही पहचानी जाती हैं। हाँ, इस युगकी प्रतिमाओंपर लेख खूब विस्तृतरूपसे मिलते हैं। जो मूर्तियाँ मिली हैं वे स्वतन्त्र फलकपर इसप्रकार बनाई हैं कि मानो आगे स्थान ही नहीं रहा। कहनेका तात्पर्य यह है कि परिकरवाली प्रतिमाएँ कम मिली हैं। जो हैं वे ११से १३वीं शती तककी ही सुन्दर हैं। पूर्वकालमें परिकरके स्थानपर प्राय: प्रतिमाएँ या चामरादि लिये परिचायक, छत्र चामरादिसे विभूषित देव हैं—अष्ट प्रातिहारिज हैं।

३ (आ) इस श्रेणीमें वे मूर्तियाँ आजाती हैं जो सप्तधातुओंसे बनी हैं। इसप्रकारकी प्रतिमाएँ पाषाण की अपेक्षा सुरक्षा और कला-कौशलकी दृष्टिसे अधिक उपयोगी हैं। पाषाणकी प्राचीन प्रतिमाएँ देखते हैं तो कहीं पपड़ी खिर जाती है या ज़मीनमें खुदाईके समय खण्डित होजाती हैं। धातुमूर्तिको कोई स्वर्णके लोभ से गला भले ही दे .... पर खण्डित नहीं कर सकता। कलाकारको भी इनके निर्माणमें अपेक्षाकृत कम श्रम करना पड़ता है; क्योंकि ये ढाली जाती थीं। धातुमूर्तियोंका इतिहास तो बहुत ही अन्धकारमें है। यद्यपि कुछेक चित्र अवश्य ही प्रकट हुए हैं पर उनकी सार्वभौमिक व्याप्तिका पता उनसे नहीं चलता। पींडवाड़ा और महुड़ीमें जो जैन धातुप्रतिमाएँ प्राप्त हो चुकी हैं वे कला-कौशलके श्रेष्ठ प्रतीक हैं और गुप्तकालकी बताई जाती हैं। इनके बादकी भी मूर्तियाँ मिली अवश्य हैं पर उनमें धातुकी सफाई अच्छी नहीं पाई जाती है और न उनका सौष्ठवत्व ही आकर्षक है। ८वीं शती पूर्वकी प्रतिमाएँ एक साथ पाँच या तीन जुड़ी हुई मिली हैं। यों तो ११वीं १२वीं शताब्दी में नवग्रह युक्त, शासनदेव-देवी सहित अधिक मूर्तियाँ मिली हैं। चौबीसी भी प्राप्त है। उत्तर भारत और दक्षिण भारतकी कलामें जो पार्थक्य पाया जाता है वह स्पष्ट है। प्रभावलीसे ही दोनोंका पार्थक्य स्वयं होजाता है। इसमें लेख भले ही न हों पर दूरसे पता चल जाता है। घंटाकृति आसन और साँचीके तोरण की आकृतियाँ कहीं-कहीं- हैं जो अन्तिम गुप्तकालीन बौद्धकलाकी देन हैं। १३वीं शताब्दी तक तो धातु मूर्तियोंके निर्माणपर जैनोंने खूब सावधान होकर ध्यान दिया, परन्तु बादको तो जो दशा हुई उसको आज देखते हैं तो बड़ा दु:ख होता है। परिकर युक्त प्रतिमाएँ तो पाषाण और धातुकी और भी मिली हैं। इन दिनोंमें तो परिकरको इस प्रकार विस्तृत कर दिया कि मूर्तिके मूल भावोंकी रक्षाकी कोई चिन्ता नहीं रक्खी। जो स्वतन्त्र धातुबिम्ब विशालकाय निर्मित हुये वे नि:सन्देह अच्छे हैं।

१०वीं ११वीं शती पूर्वके जिनबिम्बोंको जिस प्रकार अग्रभागपर ध्यान देकर सुन्दर बनाया जाता है पर पश्चात् भाग खरखरा ही रहने दिया जाता था पर बादमें १३वीं शती बाद तो वह भाग बहुत प्लैन दीखता है कारण कि लेख यहीं खोदे जाते हैं। कहीं-कहीं पीछे भी चित्रोत्कीर्णित हैं। १ स्वर्ण और २ रजत की प्रतिमाएँ भी देखनेमें आती हैं। १९वीं शती तक यह प्रथा चली। साधारण जैन जनतामें मूर्ति विषयक ज्ञान कम होनेसे बड़ा नुक्सान होरहा है। बहुत ही सुन्दर हँसमुख मूर्तिको लोग तुरन्त कह डालते हैं यह तो बौद्ध प्रतिमा है। वर्धा जिलान्तर्गत आर्वीके जैन मन्दिरमें मैंने १२वीं शताब्दीकी उत्तर भारतीय कला की अत्यन्त सुन्दर जैन प्रतिमा एक कोनेमें—जिसपर काफी धूल जमी हुई थी—पड़ी देखी थी, मैंने वहाँके खंडेलवाल भाइयोंसे कहा कि यह मामला क्या है? वे कहने लगे प्रथम तो हम इसे पूजामें रखते थे पर जबसे इसके बौद्ध होनेका हमें पता चला तभीसे हमने कोनेमें पटक रक्खी है। यह हालत है। बीकानेर के चिन्तामणि पार्श्वनाथमन्दिरके गर्भगृहमें १००० धातु प्रतिमाएँ हैं, जिनमें कलाकी दृष्टिसे बहुमूल्य भी हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उनपर इस दृष्टिसे आजकल किसीने अध्ययन करनेका कष्ट नहीं उठाया, सुना है वहाँ जैनोंकी तदाद भी काफ़ी है। तुर्रा यह कि बड़े-बड़े कलाकारों का वह आवास है।

"धातुप्रतिमाएँ—विकास और पतन" शीर्षक निबन्ध मैं लिख रहा हूँ। अतः यहाँ नहीं लिखा।

३ (इ) इस विभागकी सामग्री भारतमें बहुत ही कम मिलती है, इसका कारण मुझे तो यही प्रतीत होता है कि काष्ठका प्रयोग जिस समय भवननिर्माण आदि कलामें विशेष रूपसे होता था उन दिनों जैन प्रतिमाओंके निर्माणमें काष्ठका उपयोग इसलिये वर्जित कर दिया होगा, क्योंकि वह तो अल्पायु है—पाषाण अधिक समय टिक सकता है। फिर भी प्राचीनकालीन कुछ काष्ठ-प्रतिमाएँ मिली हैं। मैंने कलकत्ता विश्वविद्यालयके आशुतोष-आश्चर्यगृहमें एक जैन प्रतिमा काष्ठपर खुदी हुई देखी है जो बङ्गालसे ही प्राप्त की गई थी, इसका काल मेरे मित्र डी०पी० घोषने २००० वर्ष पूर्व निश्चित किया है। काष्ठको देखनेसे मालूम होता है कि वह बहुत वर्षों तक जलमग्न रहा होगा, क्योंकि उसमें सिकुड़न बहुत है। बीचके भागमें रेखाएँ ही रेखाएँ दीखती हैं। अमेरिकास्थित पेनीसिलटोनिया विश्वविद्यालयके संस्कृत विभागके और कलाके अध्यक्ष तथा जैन सहित्यके विशेषज्ञ सुप्रसिद्ध कला-समीक्षक श्रीयुत डा० विलियम नॉमन ब्रॉउनसे ता० १-१-४८ को मैंने कलकत्तामें काष्ठकी जैन प्रतिमाओंके सम्बन्धमें वार्तालाप किया था, आपने कहा कि हमारे देशमें भी चार जैन काष्ठप्रतिमाएँ आजतक उपलब्ध हुई हैं, जिनका समय १५०० वर्ष पूर्वका है। सम्भव है यदि गवेषणा की जाय तो और भी काष्ठ प्रतिमाएँ मिल सकती हैं। जैन वास्तुशास्त्रमें काष्ठ प्रतिमाका उल्लेख आया है। चन्दन आदि वृक्षोंका उसमें प्रयोग होता है।

३ (ई) जैन स्थापत्यकलामें तीर्थंकरोंकी प्रतिमाओं के बाद उनके अधिष्टायक यक्ष-यक्षिणीकी मूर्तियोंका स्थान आता है। प्राचीनकालकी कुछ तीर्थंकर प्रतिमाएँ ऐसी भी देखनेमें आती हैं जो प्रस्तर-धातुकी हैं और जिनके परिकर या पासमें एक ही चट्टानपर अधिष्ठायक खुदे हुए हैं। परन्तु कुछ कालके बाद स्वतन्त्र प्रतिमाएँ बनने लगीं, उपासकोंकी भक्ति ही इनके निर्माणका प्रधान कारण है। जैनमन्दिरके गर्भगृहके दाएँ-बाएँ और अक्सर छोटे-छोटे गवाक्षोंमें इनकी स्थापना रहती है। कुछ प्राचीन पद्मावती, सिद्धायिका देवी और अम्बिकाकी ऐसी भी मूर्तियाँ देखी हैं जिनमें प्रधानता तो इनकी रहती है, पर इनके मस्तक पर पार्श्वनाथ, महावीर और नेमनाथजीकी प्रतिमाएँ क्रमशः हैं। रोहणखेड आदि नगरोंमें स्वतन्त्र यक्ष-यक्षिणीकी खण्डित प्रतिमाएँ भी पाई जाती हैं। कहीं कहीं जिनवेदीके ठीक निम्नभागमें इनको देखते हैं। इसमें कोई सन्देह ही नहीं, प्राचीन जैन प्रतिमा-विधानमें इनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। धातु तथा पाषाण दोनोंपर ये खोदी जाती थीं। मैं तो इन कलात्मक प्रतिमाओंका महत्व केवल जैन होनेके नाते ही नहीं समझा, पर भारतीय कलाके सुन्दर सिद्धान्त और विविध उपकरणोंका जो क्रमिक विकास इनमें पाया जाता है वह प्रत्येक एतद्विषयक गवेषीको आकृष्ट किये बिना नहीं रहता; कारण कि वस्त्र और केश-विन्यास, शारीरिक गठन, आभूषण, विविध शस्त्रास्त्र, चेहरा, आँखोंका सुन्दर रजतकटाव, आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ इनमें हैं जिनका महत्व भारतीय कला और कौशलके इतना अधिक समीप है कि हम उनकी कदापि उपेक्षा नहीं ही कर सकते। जैनसमाजके बहुत ही कम व्यक्तियोंको उनके विविध रूपों और वाहनोंके शास्त्रीय ज्ञानका पता है। नासिक जैनमन्दिरमें एक स्फटिक रत्नकी जैन प्रतिमा है जिसका रजत परिकर सुन्दर और अलग है। इनके साथ गोमेदकी और नीलमकी प्रतिमाएँ हैं। एक तो मानो गणेश ही हैं। मुझसे कुछ लोगोंने कहा यह गणेशजीकी पूजा अपन कबसे करते आये हैं? यह गणेश नहीं पर पार्श्व-यक्ष हैं। इनके रूपमें शास्त्रीय सूक्ष्मान्तर है, जो सर्वगम्य नहीं। इससे आगे चल कर अनर्थ खड़े होसकते हैं। एक बात मुझे स्पष्ट कहनी चाहिए कि देवियोंकी प्रतिमाओंके कारण जैन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तन्त्रोंमें कुछ विकास अवश्य हुआ है। मूर्तिकला भी प्रत्येक समय नये तत्त्व अपनानेको तैयार थी; क्योंकि यहाँ उनको पर्याप्त स्थान था जो जिनमूर्तिमें न था, वहाँ नियमोंका पालन और मुद्राकी ओर ध्यान देना अनिवार्य था।

जैन सरस्वतीकी भी प्रस्तर-धातु प्रतिमाएँ पाई गई हैं। बीकानेरके राज-आश्चर्यगृहमें विशाल और अत्यन्त सुन्दर दो जैनसरस्वतीकी भव्य मूर्तियाँ हैं जो कला-कौशलमें १२वीं १३वीं शतीके मध्यकालीन शिल्प-स्थापत्य-कलाका प्रतिनिधित्व करती हैं। मैंने सरस्वती की मूर्तियाँ तो बहुत देखीं पर ये उन सबमें शिरोमणि हैं। मैंने स्टेलाक्रेमशीशको जब इनके फोटो बताये वे मारे प्रसन्नताके नाच उठीं, उनका मन आल्हादित हो उठा, तत्क्षण उनने अपने लिये इसकी प्रतिकृति लेली। धातुकी विद्यादेवीकी प्रतिमाएँ तिरुप्पति-कुनरममें सुरक्षित हैं। इनकी कलापर दक्षिणी भारत की शिल्पका बहुत बड़ा प्रभाव है।

३ (उ) उपर्युक्त पंक्तियोंमें सूचित प्रतिमाओंसे भिन्न और जो-जो प्रतिमाएँ जैन-संस्कृतिसे सम्बन्धित पाई जाती हैं वे सभी इस विभागमें सम्मिलित की जाती हैं, जो इस प्रकार हैं:—

१—जैन-शासनकी महिमामें अभिवृद्धि करनेवाले परम तपस्वी त्यागी विद्वान् आचार्य या मुनियोंकी मूर्तियाँ भी निर्मित हुई हैं। इनमेंसे कुछ ऐतिहासिक भी हैं—गौतम स्वामी, धन्ना, शालीभद्र, (राजगृह) हेमचन्द्रसूरि, जिनदत्तसूरि, जिनवल्लभसूरि, जिनप्रभसूरि, जिनप्रबोधसूरि, जिनकुशलसूरि, अमरचन्द्रसूरि, हीरविजयसूरि, देवसूरि आदि अनेक आचार्यों की स्वतन्त्र मूर्तियाँ उनके भक्तों-द्वारा पूजी जाती हैं। कहीं-कहीं तो गुरु-मन्दिर स्वतन्त्र हैं। इन सभीमें "दादा साहब"—जो श्रीजिनदत्तसूरिजीका ही प्रचलित संक्षिप्त नाम है—की व्यापक प्रतिष्ठा है। इन प्रतिमाओंमें कोई खास कला-कौशल नहीं मिलता, केवल ऐतिहासिक महत्व है।

२—जैन राजा और मन्दिरादि निर्माण कराने वाले सद्गृहस्थ भी अपनी करबद्ध प्रतिमा बनवाकर जैन-मन्दिरमें जिनदेवके सम्मुख खड़ी कर देते थे—आज भी कहीं-कहीं इस प्रथाका परिपालन किया जाता है। कलाकी दृष्टिसे इनका खास महत्व नहीं है। धातु और कहीं पाषाण-प्रतिमाओंमें भी भक्तोंका प्रदर्शन अवश्य ही दृष्टि-गोचर होता है। बौद्ध-मूर्तियों में तो सम्पूर्ण पूजनकी सामग्री तक बताई जाती है। ऐसी मूर्ति मेरे संग्रहमें है। आबू पादलिप्तपुरकी यात्रा करनेवाले उपर्युक्त प्रतिमाओंकी कल्पना कर सकते हैं। वस्तुपाल, तेजपाल, उनकी पत्नी, वनराज चावड़ा, मोतीशा आदिकी प्रतिमाएँ एक-सी हैं। मैं स्पष्ट करदूँ कि इसप्रकारकी मूर्ति बनवानेमें उनका उद्देश्य खुदकी पूजा न होकर एकमात्र तीर्थङ्करकी भक्ति ही था, हाथ जोड़कर खड़ी हुई मुद्रा इसीलिये मिलती हैं।

३—वास्तुकलाके सम्बन्धमें जो उल्लेख जैन-साहित्यमें आये हैं, उनमें यह भी एक है कि जैन-मन्दिर या अन्य आध्यात्मिक साधनाके जो स्थान हों वहाँपर जैनधर्म और कथाओंसे सम्बद्ध भावोंका अङ्कन अवश्य ही होना चाहिए जिसको देखकरके आत्म-कर्तव्यकी ओर मानवका ध्यान जाय। इसप्रकार के अवशेष विपुलरूपमें उपलब्ध हुए भी हैं जो तीर्थङ्करोंका समोसरण, भरत-बाहुबलि युद्ध, श्रेणिक-की सवारी, भगवानका विहार, समलिविहार (भृगुकच्छ)की पूर्व कहानी आदि अनेकों भाव उत्कीर्ण पाये जाते हैं; परन्तु इन भावोंके विस्तृत इतिहास और परिचय प्राप्त करनेके आवश्यक साधनोंके अभावमें लोग तुरन्त उन्हें पहिचान नहीं पाते। अतः कहीं-कहीं तो इनकी उपेक्षा और अनावश्यकतापर भी कुछ कह डालते हैं। जीर्णोद्धार करनेवाले बुद्धिहीन धनी तो कभी-कभी इन भावोंको जान-बूझकर चूना-सीमेण्टसे ढकवा देते हैं—राणकपुरमें कोशाका नृत्य और स्थूलभद्रजीके जीवनपर प्रकाश डालनेवाले भाव प्रस्तरोंपर अङ्कित थे जो साफ तौरसे बन्द करवा दिये गये, जब वहाँ जैनकलाके विशेषज्ञ साराभाई पहुँचे तब उन्हें ठीक करवाया। धनिकोंको अपना धन कलाकी हिंसा-हत्यामें व्यय न करना चाहिए। विवेक न रखनेसे हमारे ही अर्थसे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हमारी कलाकी हिंसा हम ही कर रहे हैं।

दक्षिण-भारतमें दिगम्बर कथाओंपर ऐतिहासिक प्रकाश डालनेवाले भाव उत्कीर्णित मिले हैं—सबसे अधिक आवश्यक कार्य इन अवशेषोंका है जो सर्वथा ही उपेक्षित हैं।

३ (ऊ) अष्टमङ्गल, स्वस्तिक, नंद्यावर्त और स्तूपाकृतिमें जो प्रतिमाएँ पाई जाती हैं उनका समावेश मैं इस विभागमें करता हूँ; क्योंकि ये भी हमारी संस्कृति के विशिष्ट अङ्ग हैं, ये अवशेष जङ्गलोंमें पड़े रहते हैं। इनकी सुधि कौन ले? नालन्दामें मैंने एक स्वस्तिक —जो ईंटोंमें उठा हुआ है—देखा, वह इतना सुन्दर था कि देखते ही बनता है। उसकी रेखाएँ एवं मोड़ सुन्दर थे। जैन-मन्दिरोंमें जो स्तम्भ लगाये जाते हैं उनमेंसे किसी-किसीमें वीतरागकी प्रतिमाएँ अङ्कित रहती हैं। बौद्धोंके स्तूपोंकी जैसी आकृति बनती है वैसी ही आकृतिवाली जैन-प्रतिमाएँ स्तूपमें मैंने महादेव[1] सिमरिया (मुंगेर ज़िला) रोहणखेडमें देखी हैं। इन प्रतिमाओंमें अधिकांश नग्न ही रहा करती थीं।

उपर्युक्त पंक्तियोंसे विदित होगया है कि जैनोंकी प्रतिमाकला-विषयक सम्पत्ति कितनी महान् और स्पर्द्धा उत्पन्न करनेवाली है। इन सभी प्रकारोंपर आजतक किसी भी विद्वानके द्वारा सार्वभौमिक प्रकाश डाला जाना तो दूर रहा, किसी एक प्रधान अङ्ग पर भी नहींके बराबर काम हुआ है। जैन-समाजके लोग तो पूर्णतः इनपर उपेक्षित भावसे काम लेते आये हैं। मेरे परम मित्र डा० हँसमुखलाल सांकलिया, श्रीशान्तिलाल छगनलाल उपाध्याय, उमाकान्त प्रेमानन्दशाह, मि० रामचन्द्रम् आदि कुछ अजैन विद्वानोंने जैनमूर्ति-विधान, कला-कौशलके विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गोंपर बड़ा गम्भीर अन्वेषण कर जो कार्य किया है और आज भी वे इसी विषयमें पूर्णतः संलग्न हैं, वह हमारी समाजके विद्वानोंके लिये अनुकरणीय आदर्श है। कलकत्तामें प्रोफेसर अशोककुमार भट्टाचार्य हैं, जो जैनमूर्ति शास्त्रपर बृहत्तर ग्रन्थ प्रस्तुत करने जारहे हैं। मैंने उनके कामको देखा, स्तब्ध रह गया! अजैन होते हुए भी उनने जैनकलाके बहुसंख्यक सुन्दर और उपेक्षित तत्त्वोंको खोज निकाला है। परन्तु मुझे अत्यन्त परितापके साथ सूचित करना पड़ रहा है कि इन अजैन विद्वानोंकी रुचि तो बहुत है पर उनको अपने विषयमें सहाय करने वाले साधन प्राप्त नहीं होते, यही कारण है कि अजैन विद्वानोंसे भूलें होजाती हैं[1]। तब हमारा समाज चिल्ला उठता है कि उसने बड़ी गलती की। जब हम स्वयं न तो अध्ययन करते हैं और न करनेवालोंको सहायता ही पहुँचाते हैं। जैनसमाजको अब करना तो यह चाहिये कि उपर्युक्त प्रतिमाओंमेंसे जो सुन्दर, कलापूर्ण हैं उनका एक या अधिक भागोंमें अल्बम तैयार कराया जाय, जिससे अजैन विद्वानों तक वह वस्तु पहुँच सके। आज हम देखते हैं भारतमें और बाहरकी जनताको जितना ज्ञान बौद्धपुरातत्त्वका है उसका शतांश भी जैनोंका नहीं, जो है वह भी भ्रमपूर्ण है।

४ स्तम्भ—

मध्यकालीन भारतमें जैनमन्दिरके सम्मुख

१ यह स्थान गिद्धौर राज्यके अन्तर्गत है। यहाँ पर बड़ा प्रसिद्ध विशाल शैव-मन्दिर है, इसकी निर्माणकला शुद्ध जैन है और वहाँके ज़मींदारसे भी मालूम हुआ कि पूर्वमें यह जैन-मन्दिर ही था, पर प्रतापी नरेशने ५०-६० वर्ष पूर्व इसे परिवर्तित कर शिव-मन्दिरका रूप दे दिया। यहाँपर किसी कालमें जैनी अवश्य ही रहे होंगे, क्योंकि लछवाड़ भी समीप है तथा काकन्दीके पास ही है। यहाँके मन्दिरमें बौद्ध-मूर्तिएँ अच्छी-अच्छी सुरक्षित हैं, जिनपर लेख भी हैं। विचित्रता यहाँपर यह है कि कुम्भार पंडे हैं।

१ लाहौरसे प्रकाशित "जैन इकोनोग्राफी" मेरे अवलोकनमें आई है। यह जैन दृष्टिसे बहुत त्रुटिपूर्ण है। उदाहरणके तौरपर प्रथम ही जो चित्र दिया है वह स्पष्टरूपसे ऋषभदेवजीकी प्रतिमा है जब कि उसके निम्न भागमें महावीर लिखा है। ऐसी भूलें अक्षम्य हैं।

देखें "जैन प्रतिमाएँ", शीर्षक मेरा निबन्ध।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशाल स्तम्भ करनेकी प्रथा विशेषतः दिगम्बर जैन समाजमें ही रही है। चित्तौड़का कीर्तिस्तम्भ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। जैनधर्मकी दृष्टिसे इन स्तम्भोंका बड़ा महत्व भले ही हो। परन्तु शिल्पकलाके इतिहासपरसे मानना होगा कि यह अजैन वास्तुकी दैन है जिसको जैनोंने अपना स्वरूप देकर अपना लिया, ये स्तम्भ भी दक्षिण भारतमें बहुत बड़ी संख्यामें पाये जाते हैं। इनमें जो कलाकौशल पाया जाता है उसके महत्वसे जैनसमाज तक अनभिज्ञ है। सांचीके उपरिभागमें जिन प्रतिमाएँ रहती थीं, कहा जाता है कि ये शूद्रोंके दर्शनार्थ रखी जाती थीं। आज भी प्रत्येक दिगम्बर जैनमन्दिरके आगे एक स्तम्भ यदि खड़ा हो तो समझना चाहिये कि यहाँ मानस्तम्भ है। इनपर भी एक ग्रन्थ आसानीसे प्रस्तुत किया जासके इतनी सामग्री विद्यमान है।

५ लेख—

जैन पुरातत्त्वकी आत्मा है किसी भी राष्ट्रकी राजनैतिक स्थितिके वास्तविक ज्ञान वृद्धयर्थ उसके शिलालेखोंका परिशीलन आवश्यक है ठीक उसी प्रकार जैन संस्कृतिके तत्त्वोंका अनुशीलन अनिवार्य है। इसमें धार्मिक और सामाजिक इतिहासकी विशाल सामग्री भरी पड़ी है। राजनैतिक दृष्टिसे भी ये उपेक्षणीय नहीं। तत्कालीन मानव जीवनके सम्बन्धमें जो बहुमूल्य तत्वोंका समीकरण हुआ था उनका आभास भी इन प्रस्तरोत्कीर्ण शिलाखण्डोंसे मिलता है। पश्चिम भारतके लेख ब्राह्मी या अधिकांशतः देवनागरीमें मिले हैं जब दक्षिणभारतमें कनाडीमें। जैन लेखोंको यों तो कई भागोंमें बाँटा जा सकता है पर मैं यहाँ केवलदो भागोंमें विभाजितकरूँगा।

(१) शिलाओंपर उत्कीर्ण लेख
(२) प्रतिमाओंपर उत्कीर्ण लेख

प्रथम श्रेणीके लेख बहुत ही कम मिलते हैं। खारवेलका लेख अत्यन्त मूल्यवान् है जो ईस्वी पूर्व दूसरी शतीका है। उदयगिरि खण्डगिरिमें और भी जो प्राकृत शिलालेख पाये जाते हैं उन सभीपर विस्तृत विवरणके साथ पुरातत्त्वाचार्य श्रीजिनविजय जीने *श्रमपूर्वक प्रकाशित करवाये हैं।* मथुराके लेख जैन-इतिहासमें बहुत बड़ा महत्व रखते हैं। डा० याकोबीने इनकी भाषाके आधारपर ही जैन आगमोंकी भाषा की तीक्ष्ण जाँचकर प्राचीन स्वीकार किया है। विन्सेण्टस्मिथने मथुराके पुरातत्त्वपर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही प्रकट किया है। डा० अग्रवाल आदि महानुभाव समय-समयपर यहाँकी जैन पुरातत्त्व-विषयक सामग्रीपर प्रकाश डालते रहे हैं।

कलकत्ता निवासी स्व० बाबू पूर्णचन्दजी नाहरने मथुराके तमाम शिलालेखोंकी जाँच दुबारा स्वयं जाकर की थी, डा० स्मिथने जो भूलें की थीं उनका संशोधन करके अनन्तर उन समस्त जैन लेखोंका मूल पाठ शुद्धकर, हिन्दी और अँग्रेजी भाषाओंमें उनका अनुवाद कर एक विशाल संग्रह तैयार कर रखा था, पर अकालमें ही उनकी मृत्युने इस महान् कामको रोक दिया, वरना न जाने क्या क्या साधन प्रस्तुत करते। जैन साहित्यमें जहाँ जहाँ मथुराका उल्लेख भी आया है उन कई उल्लेखोंको नोट करके वहाँकी जैन संस्कृति विषयक प्रचण्ड सामग्री भी सञ्चित कर रखी थी। उनके सुयोग्य पुत्र राष्ट्रकर्म्मी श्रीविजयसिंह जी नाहर सहर्ष प्रकट करनेको भी तैयार हैं। मैं अपने सहयोगियोंकी खोजमें हूँ। यदि समय और शक्तिने साथ दिया तो काम किञ्चित् तो हो ही जायेगा।

गुप्तकालीन भारतका उत्कर्ष चरम सीमापर था, इस कालके संवत् वाले जैनलेख अल्प मिले हैं। राजगृहीमें सोन भण्डारमें जो लेख लिखा है वह जैनधर्मसे सम्बन्धित होना चाहिये; क्योंकि वह स्मारक ही शुद्ध जैन-संस्कृतिसे सम्बद्ध है। जैन-प्रतिमाएँ स्पष्टरूपसे उत्कीर्णित हैं। भारत सरकारके प्रधान लिपि वाचक श्रीयुत डा० बहादुरचन्द छावड़ाने इसका इम्प्रेशन गत मासमें मँगवाया है इससे अंदाज है कि वे इसपर प्रकाश डालनेका कष्ट करेंगे। आचार्य मुनि वैरदेवके नामका एक लघु लेख श्रीयुत भँवरलालजी जैनने मुझे कलकत्तामें बताया था, लिपि अन्तिम गुप्तकालीन थी। नालन्दाकी तलहट्टीमें एक गुफा बनवानेका उल्लेख था। (अगली किरणमें समाप्त)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

निस्पृही कार्यकर्त्ता—

बीसवीं शताब्दीरूपी वधूका डोला अभी आया भी नहीं था कि उसके स्वागत-समारोहके लिये समूचे भारतमें इस छोरसे उस छोरतक उत्साहकी लहर दौड़ गई। जनतामें सेवा, तप, त्याग, बलिदानके भाव अङ्कुरित हो उठे, और बड़े ही लाड़-प्यार और चावसे जीवन-सन्देशनी नववधूका स्वागत हुआ। वह अपने साथ राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक-चेतना दहेजस्वरूप लाई। परिणाम यह हुआ कि मुसलमान, ईसाई, सनातनी, आर्य्य, सिक्ख सम्प्रदायोंसे निस्पृही कार्यकर्त्ताओंके जत्थे-के-जत्थे कार्य-क्षेत्रमें आने लगे।

जैन-समाजमें भी एक होड़-सी मच गई। राजा लक्ष्मणदास और डिप्टी चम्पतराय आदि महासभा की स्थापना कर ही चुके थे। पं० गोपालदास वरैया भी मोरेनामें आसन मारकर बैठ गये और न्यायाचार्य गणेशप्रसादजी व बाबा भागीरथदासजी वर्णी बनारसमें धूनी रमा बैठे। श्रीअर्जुनलाल सेठी चौमूँ ठिकानेकी दीवानगिरीका मोह त्याग जयपुरमें करो या मरोका मन्त्र जपने लगे। महात्मा भगवानदीन हस्तिनागपुर-आश्रमको गुरुकुल-काँगड़ी बना देनेकी धुनमें स्टेशनमास्टरीको तिलाञ्जलि दे आये। बा० शीतलप्रसादजी लखनवी गृही-जीवनको धता बताकर जोगी बन गये, और सारे जैन-समाजमें अलख जगा दी। मगनबहन, ललिताबाई और चन्दा सुकुमारी पति-वियोगमें न झुलसकर जैन-बहनोंको सीता, अञ्जना, राजमती बनानेमें लग गई। जैनी ज्ञानचन्द और पं० पन्नालाल बाकलीवालने साहित्योद्धारका बीड़ा उठाया तो देवबन्दके तीन सपूतों—बा० सूरजभानजी वकील, पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, बा० ज्योतिप्रसादजी जैन—ने देवबन्दसे ही जिनवाणी-माताको बन्दी बनाकर रखने वालोंके गढ़ोंपर समीक्षाओं, परीक्षाओं और आलोचनाओंके वे गोले बरसाये कि कुम्भकरणी नींदको मात करने वाले भी हड़बड़ाकर उठ बैठे। सेठ माणिकचन्द जैन होस्टलोंकी दाग़बेल डालनेमें जुटे तो आरेके देवकुमार जैन भरी जवानीमें शास्त्रोद्धारकी क़सम खा बैठे।

फिर नाथूराम प्रेमी, दयाचन्द गोयलीय, कुमार देवेन्द्रप्रसाद, रिषभदास वकील, माणिकचन्द खंडवा का युवक-हृदय कब चुप रह सकता था ? ये कार्यक्षेत्रमें युवकोचित ही ढङ्गसे आये, जिन्हें देख जनता साधुवाद कह उठी। इन सब अलबेले कर्म-वीरोंको नज़र न लग जाए, इस आशङ्कासे प्रेरित जैनी जियालालजी भी अपने ज्योतिष-पिटारेके बलपर दुनियाए बदनज़रकी नज़रसे बचानेको निकल पड़े।

इन निस्पृही कार्यकर्त्ताओंकी लगन और दीवानगी देखकर जुगमन्दरदास और चम्पतराय अपनी बैरिस्टरी भूलकर यकायक दीवाने होगये।

चारों ओर समाजमें जीवन-ज्योति प्रज्वलित हो उठी। गाँव-गाँवमें पाठशालाएँ खुल गईं। पचासों विद्यालय और हाईस्कूल स्थापित होगये। सैकड़ों पुस्तकालयोंका उद्घाटन हुआ। शहर-शहरमें सभा-समितियाँ बनीं। पत्र निकले, जैन-साहित्य प्रकाशमें आया, ट्रेक्टोंके ढेर लग गये। इन निस्पृही सेवकोंके सम्मानमें श्रीमन्तोंने रुपयोंकी थैलियाँ खोल दीं। लेनेवाले थक गये पर श्रीमन्त आज भी थैलियोंके मुँह खोले हुए अपने निस्पृही कार्यकर्त्ताओंकी बाटमें बैठे हुए हैं। क्या श्रेयाँसको जैसे ऋषभनाथ और भिलनीको जैसे राम घर बैठे मिल गये थे, इनको भी अपनी समाजके अमिट, अडोल, निस्पृही कार्यकर्त्ताओंके फिर दर्शन होंगे ? क्या इन्हें एक बार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी सुपात्र-दान देकर जन्म सुफल करनेका अवसर मिलेगा ?

न जाने हमारी इस निस्पृहताको किस बदनजर की नजर लगी है कि एक-एक करके सब छीजते जारहे हैं। जो बचे हैं वे भी हमारी नालायक़ियोंसे तङ्ग आकर चलते बनें, कुछ भरोसा नहीं, वे तो अब हमारे लिये वन्दनीय और दर्शनीय हैं, जितने दिन भी उनका साया बना रहे हमारा सौभाग्य है।

पर, जो कहते हैं—"ज्योतिसे ज्योति जलती आई है, वह कभी बुझती नहीं।" उनसे हम पूछते हैं कि हमारी इस दीपमालाको क्या हुआ ? जो दीप बुझा उससे नवीन क्यों नहीं जलता ! यह पंक्तिकी पंक्ति क्यों प्रकाशहीन होती जारही है ?

हमारी इस आकुलताका क्या कोई अनुभवी सज्जन निराकुल उपाय बतानेकी दया करेंगे ?

जैन-एकता—

जैन-एकताका नारा नया नहीं, बहुत पुराना है। परन्तु जिस प्रकार हिन्दु-मुस्लिम राज्यका नारा जितनी-जितनी ऊँची आवाज और तेजीसे बुलन्द किया, उतनी ही शीघ्रता और परिमाणमें अविश्वास और आशङ्काकी खाई चौड़ी होती चली गई। उसी तरह जैन समाजके तीनों सम्प्रदायके सङ्गठनका वृक्षारोपण जितनी बार किया गया है, घातक फल ही देता रहा है। तीनों सम्प्रदाय एक होने तो दूर, एक-एक सम्प्रदायमें अनेक शाखाएँ उपशाखाएँ बढ़ती जारही हैं।

हिन्दु-मुस्लिम इत्तहादमें जो कांग्रेस सदैव भूल करती रही है, उसीका अन्ध-अनुकरण हमारे यहाँ होता रहा है। कांग्रेसने इत्तहादका नारा तो बुलन्द किया पर अपनेसे भिन्न सम्प्रदायके हृदयमें घर नहीं बनाया। कांग्रेसी मञ्चसे व्याख्यान देते रहे, अपील निकालते रहे। परन्तु उनके साम्प्रदायिक गढ़ोंमें न कभी गये, न उनकी रीति-रिवाजका अध्ययन किया, न इत्तहादके मार्गकी कठिनाइयोंको समझा, न उनका हल हुआ। परिणाम इसका यह निकला कि मुस्लिम जनताको कांग्रेसी नेताका व्याख्यान तो शाज़ोनादिर कभी सुननेको मिलता, किन्तु रोज़ाना मस्जिदमें, सभा-सोसायटियोंमें और व्यावहारिक जीवनमें मज़हबी दीवानों और तास्सुबी लोगोंके ज़बानके चटख़ारे रोज़ सुननेको मिलते।

इधर कांग्रेसी-व्याख्यान भूले भटके किसीने सुना भी तो अभी वह पूरी तरह उसको समझ भी नहीं पाया है कि मुहल्लेमें होने वाले रोज़ाना लीगी लेक्चरोंने सब गुड़ गोबर कर दिया। उसपर यह आये दिन हलाल और झटका, गौ और सूअर, अज़ाँन और बाजा, ताज़िये और सड़कके पेड़, हिन्दी और उर्दूके झगड़े नित नया गुल खिलाते रहे। कांग्रेसी इत्तहाद और अहिंसाका बराबर उपदेश देते रहे; परन्तु यह आये दिन झगड़े क्यों होते हैं, न इसका कभी हल निकाला न कोई उपाय सोचा न उन उपद्रवी स्थलोंपर पहुँचकर सही परिस्थितिका निरीक्षण किया। जब घर फुक जाते, बहन-बेटी बेइज्ज़त होजातीं, सर्वस्व लुट जाता और प्रतिष्ठित व्यक्ति पिट जाते तब उन्हींको यह कहकर कि "आपस में लड़ना ठीक नहीं", लानत मलामत देते। लुटेरे और शोहदे खिलखिलाते और ये कांग्रेसकी भेड़ें गर्दनें झुकाकर रह जातीं।

चूंकि ये भेड़ें कांग्रेसका मरते दम तक साथ निभानेकी प्रतिज्ञा कर बैठीं थीं, इसलिये मार खाकर भी मिमयाती तो नहीं थीं, पर पिटना क्यों ठीक है, यह उनकी समझमें नहीं आ पाता था और वह भेड़ियों से मेल-मिलाप करते हुए शङ्कित ही रहतीं थीं। यदि उन भेड़ियोंको भी कांग्रेसने भेड़ बनाया होता तो बिना प्रयासके ही इत्तहाद होगया होता।

कांग्रेसने कभी मुसलमानोंके सामाजिक और धार्मिक जीवनमें आनेका प्रयत्न नहीं किया ! परिणाम इसका यह हुआ कि हर मुसलमान कांग्रेसी नेताको केवल हिन्दु समझता रहा। अपनी क़ौमका नेता वह उन्हींको समझता रहा जो उनकी रोज़ाना ज़िन्दगीमें दिलचस्पी लेते रहे। और दुर्भाग्यसे कांग्रेसने भी उन्हीं मज़हबी दीवानोंको उनका नेता तस्लीम कर लिया जो मुसलमानोंको रोज़ाना कांग्रेसके विरुद्ध

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भड़का रहे थे। परिणाम सबके सामने है।

इसी तरह जैनोंमें एकताकी बात उठती रही है। तीनों सम्प्रदायोंकी प्रतिनिधि सभाओंने अनेक बार जैन-एकताके प्रस्ताव पास किये हैं। परन्तु इनके कार्य ऐसे रहे हैं कि इतर पक्षको विश्वास बढ़नेके बजाय आशङ्का ही हुई है।

जैन महामण्डल जिसका निर्माण तीनों सम्प्रदाय की एकताके लिये किया गया था। वह पुद्गल शरीर बनकर रह गया। इंजेक्शनोंके ज़ोरसे भी उसमें प्राण प्रतिष्ठा न हो पाई। हम हैरान हैं कि इस निर्जीव शरीरको अबतक कैसे ढोते रहे, जब कि उसके कार्य-कर्ता स्वयं जैन-एकतासे दूर भागते रहे। जीवनभर अपना-अपना सम्प्रदाय उनका कार्यक्षेत्र बना रहा, तीर्थक्षेत्रोंके मुक़दमोंमें एक सम्प्रदायके विरुद्ध दूसरे की पैरवी करते रहे। और एकताका निर्जीव पुतला भी उठाते रहे।

महामण्डलकी ओरसे जैन-एकताका आन्दोलन लगभग आर्यसमाजकी तरह रहा है। आर्यसमाजके उत्सवोंमें दिनको तो हिन्दु-सङ्गठन पर प्रभावशाली व्याख्यान-भजन होते और रात्रिको जैन, सनातनी, सिक्ख आदिको शास्त्रार्थके लिये ललकारा जाता। उनके उनके धार्मिक विश्वासोंका मखौल उड़ाया जाता और महापुरुषोंको असभ्य शब्द कहे जाते। दिनमें वे कभी हिन्दु सङ्गठनपर व्याख्यान देनेसे न चूके और रातको शास्त्रार्थ करनेसे कभी बाज़ न आये। परिणाम इसका यह हुआ कि आर्यसमाजका हिन्दु-सङ्गठन आन्दोलन बाजीगरके तमाशेसे भी कम आकर्षक होगया है।

गत ३-४ वर्षोंमें इस निर्जीव बुतको विवाहआदि अवसरोंपर मिट्टीके गणेशकी जगह पुजवाकर देवत्व लानेका प्रयत्न किया है। परिणाम स्वरूप ब्यावरमें इसका स्वतन्त्र अधिवेशन भी हमने अपनी होशमें पहलीबार होते सुना है।

अभिनन्दनीय हैं वे लोग जो सचमुच जैनएकता के लिये प्रयत्नशील हैं। हम भी २३ वर्षोंसे इस साध को अपने सीनेमें छिपाये बैठे हैं। परन्तु प्रश्न तो यह है कि बिल्लीके गलेमें घण्टी कौन बाँधे। व्यक्तिगत प्रभावसे अधिवेशन करा भी लिया १०-५ को किसी तरह एकत्र भी कर लिया, या जैन-एकता कार्यालय भी बना लिया। २-४ अच्छे खासे वेतन-भोजी क्लर्क भी मिल गये, पर इन सब कार्योंसे एकता कैसे होसकेगी?

आये दिन जो यह तीर्थोंपर उपद्रव होते रहते हैं। यह क्यों होते हैं और क्योंकर रोके जा सकते हैं? एक दूसरेके विरुद्ध पत्रों और ट्रेक्टों द्वारा विष-वमन होता रहता है। वह कैसे रोका जाय? दिगम्बर कार्यकर्ता श्वेताम्बरोंमें और श्वेताम्बर कार्यकर्ता दिगम्बरोंमें निःस्वार्थ भावनासे किस प्रकार कार्य करें और कौन-कौन करें? जब तक यह अमली कार्य-क्रम नहीं बनता है। और वे लोग जिनकी अपने यहाँ भी आवाज़का कोई मूल्य नहीं है उनके प्रयत्नसे जैन-एकता तो नहीं हो सकेगी। हाँ वह भी हमारे अनगिनत नेताओंकी श्रेणीमें खड़े होकर भोली जनताको लानतमलामत देनेका अधिकार पा सकेंगे।

डालमियानगर
१४-५-१९४८ —गोयलीय

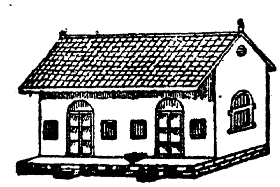

युगके चरण अलख चिर-चंचल !

['तन्मय' बुखारिया]

१

रविकी गतिसे, शशिकी गतिसे,
भूत, भविष्यत्से, सम्प्रतिसे,
कभी यहाँ, फिर कभी वहाँ जो,
उस मतवाले मनकी मतिसे;
सम्भव कभी सभी रुँध जाएँ,
किन्तु न युगकी आँखोंमें जल!
युगके चरण अलख चिर-चञ्चल !!

२

आज परस्पर अविश्वास, सच,
निर्गति-सा नरका विकास, सच,
रक्त रक्तको भूल रहा-सा,
चेतन जड़का क्रीत दास, सच,
परिवर्तनके पग बढ़ते जब,
तब होता ही है कोलाहल!
युगके चरण अलख चिर-चञ्चल !!

३

पर, न सदा यह अन्धकार ही,
प्राणोंपर विजयी विकार ही;
मेरे जीवन ! उठो, न असमय,
सचमुच, बनकर रहो भार ही!
क्योंकि कभी तो कविकी वाणी,
बिखराएगी ही निज प्रतिफल !!
(जब तव पद-नखकी कोरोंपर,
लोट-लोट जाएँगे जल-थल !!!)
युगके चरण अलख चिर-चञ्चल !

ललितपुर, १७—६—४८

वीरसेवामन्दिरको प्राप्ति

गत किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद प्राप्त हुई रकमें

१०००) 'सन्मति-विद्या-निधि'के रूपमें बाल-साहित्यके प्रकाशनार्थ जुगलकिशोर मुख्तारने अपनी दोनों दिवंगत पुत्रियों सन्मति और विद्यावती की ओरसे प्रदान किये।

२५) श्रीमती पुतलीदेवी धर्मपत्नी ला० रोढामलजी जैन चिलकाना जि० सहारनपुरसे सधन्यवाद प्राप्त, मार्फत भाई महाराजप्रसाद जैन बजाज सरसावाके (बीमारीके अवसरपर निकाले हुए दानमेंसे)।

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

अनेकान्तको सहायता

गत चौथी किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद अनेकान्तको निम्न सहायता और प्राप्त हुई है जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं—

५) ला० प्रतापसिंह प्रसादीलालजी बाँदीकुई चि० चित्रारानी पुत्रीके निधनपर निकाले गये दानमेंसे।

५) सेठ भूँथालालजी बड़जात्याके सुपौत्र और सेठ गेंदीलालजी कासलीवालकी सुपौत्रीके विवाहोपलक्ष्यमें (मार्फत पं० भँवरलालजी शास्त्री जयपुर)

———

१०)

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय ज्ञानपीठ काशीके प्रकाशन

१. **महाबन्ध**—(महधवल सिद्धान्त-शास्त्र) प्रथम भाग। हिन्दी टीका सहित मूल्य १२)।

२. **करलक्खण**—(सामुद्रिक-शास्त्र) हिन्दी अनुवाद सहित। हस्तरेखा विज्ञानका नवीन ग्रन्थ। सम्पादक—प्रो० प्रफुल्लचन्द्र मोदी एम० ए०, अमरावती। मूल्य १)।

३. **मदनपराजय**— कवि नागदेव विरचित (मूल संस्कृत) भाषानुवाद तथा विस्तृत प्रस्तावना सहित। जिनदेवके कामके पराजयका सरस रूपक। सम्पादक और अनुवादक-पं० राजकुमारजी सा०। मू० ८)

४. **जैनशासन**—जैनधर्मका परिचय तथा विवेचन करने वाली सुन्दर रचना। हिन्दू विश्वविद्यालयके जैन रिलीजनके एफ० ए० के पाठ्यक्रममें निर्धारित। मुखपृष्ठपर महावीरस्वामीका तिरङ्गा चित्र। मूल्य ४।-)

५. **हिंदी जैन-साहित्यका संक्षिप्त इतिहास**—हिन्दी जैन-साहित्यका इतिहास तथा परिचय। मूल्य २॥)।

६. **आधुनिक जैन-कवि**—वर्तमान कवियोंका कलात्मक परिचय और सुन्दर रचनाएँ। मूल्य ३॥)।

७. **मुक्ति-दूत**—अञ्जना-पवनञ्जय-का पुण्यचरित्र (पौराणिक रोमाँस) मू० ४॥)

८. **दो हजार वर्षकी पुरानी कहानियां**—(६४ जैन कहानियाँ) व्याख्यान तथा प्रवचनोंमें उदाहरण देने योग्य। मूल्य ३)।

९. **पथचिह्न**—(हिन्दी-साहित्य-की अनुपम पुस्तक) स्मृति रेखाएँ और निबन्ध। मूल्य २)।

१०. **पाश्चात्यतर्कशास्त्र**—(पहला भाग) एफ० ए० के लॉजिकके पाठ्यक्रमकी पुस्तक। लेखक—भिक्षु जगदीशजी काश्यप, एफ० ए०, पालि—अध्यापक, हिन्दू विश्व-विद्यालय, काशी। पृष्ठ ३८४। मूल्य ४॥)।

११. **कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न**—मूल्य २)।

१२. **कन्नडप्रान्तीय ताडपत्र ग्रन्थ-सूची**—(हिन्दी) मूडबिद्रीके जैनमठ, जैन-भवन, सिद्धान्तवसदि तथा अन्य ग्रन्थ-भण्डार कारकल और अलिपूरके अलभ्य ताडपत्रीय ग्रन्थोंके सविवरण परिचय। प्रत्येक मन्दिरमें तथा शास्त्र-भण्डारमें विराजमान करने योग्य। मूल्य १०)।

वीरसेवामन्दिरके सब प्रकाशन भी यहाँपर मिलते हैं

प्रचारार्थ पुस्तक मँगाने वालोंको विशेष सुविधाएँ

भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Regd. No. A-731

वीरसेवामन्दिर सरसावाके प्रकाशन

१ **अनित्यभावना**—मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित। इष्टवियोगादिके कारण कैसा ही शोकसन्तप्त हृदय क्यों न हो, इसको एक बार पढ़ लेनेसे बड़ी ही शान्तताको प्राप्त हो जाता है। इसके पाठसे उदासीनता तथा खेद दूर होकर चित्तमें प्रसन्नता और सरसता आजाती है। सर्वत्र प्रचारके योग्य है। मूल्य।)

२ **आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र**—नया प्राप्त संक्षिप्त सूत्रगन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी सानुवाद व्याख्या सहित। मूल्य।)

३ **सत्साधु-स्मरण-मङ्गलपाठ**—मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी अनेक प्राचीन पद्योंको लेकर नई योजना, सुन्दर हृदयग्राही अनुवादादि-सहित। इसमें श्रीवीर-वर्द्धमान और उनके बादके, जिनसेनाचार्य पर्यन्त, २१ महान् आचार्योंके अनेकों आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा किये गये महत्वके १३६ पुण्य स्मरणोंका संग्रह है और शुरूमें १ लोकमंगल-कामना, २ नित्यकी आत्म-प्रार्थना ३ साधुवेषनिदर्शन-जिनस्तुति, ४ परमसाधुमुखमुद्रा और ५ सत्साधुवन्दन नामके पाँच प्रकरण हैं। पुस्तक पढ़ते समय बड़े ही सुन्दर पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं और साथ ही आचार्योंका कितना ही इतिहास सामने आजाता है। नित्य पाठ करने योग्य है। मू० ॥)

४ **अध्यात्म-कमल-मार्त्तण्ड**—यह पञ्चाध्यायी तथा लाटी संहिता आदि ग्रन्थोंके कर्ता कविवर राजमल्ल-की अपूर्व रचना है। इसमें अध्यात्मसमुद्रको कूजेमें बन्द किया गया है। साथमें न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया और पण्डित परमानन्दजी शास्त्रीका सुन्दर अनुवाद, विस्तृत विषयसूची तथा मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जीकी लगभग ८० पेजकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना है। बड़ा ही उपयोगी ग्रन्थ है। मू० १॥)

५ **उमास्वामि-श्रावकाचार-परीक्षा**—मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी ग्रन्थपरीक्षाओंका प्रथम अंश, ग्रन्थ-परीक्षाओंके इतिहासको लिये हुये १४ पेजकी नई प्रस्तावना-सहित। मू० ।)

६ **न्याय-दीपिका (महत्वका नया संस्करण)** न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया द्वारा सम्पादित और अनुवादित न्यायदीपिकाका यह विशिष्ट संस्करण अपनी खास विशेषता रखता है। अबतक प्रकाशित संस्करणोंमें जो अशुद्धियाँ चली आरही थीं उनके प्राचीन प्रतियोंपरसे संशोधनको लिये हुए यह संस्करण मूलग्रन्थ और उसके हिन्दी अनुवादके साथ प्राक्कथन, सम्पादकीय, १०१ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना, विषयसूची और कोई ८ परिशिष्टोंसे संकलित है, साथमें सम्पादक-द्वारा नवनिर्मित 'काशाख्य' नामका एक संस्कृत टिप्पण भी लगा हुआ है, जो ग्रन्थगत कठिन शब्दों तथा विषयोंको खुलासा करता हुआ विद्यार्थियों तथा कितने ही विद्वानोंके कामकी चीज है। लगभग ४०० पृष्ठोंके इस सजिल्द वृहत्संस्करणका लागत मूल्य ५) रु० है। कागजकी कमीके कारण थोड़ी ही प्रतियाँ छपी हैं और थोड़ी ही अवशिष्ट रह गई हैं। अतः इच्छुकोंको शीघ्र ही मँगा लेना चाहिये।

७ **विवाह-समुद्देश्य**—लेखक पं० जुगलकिशोर मुख्तार, हालमें प्रकाशित चतुर्थ संस्करण।

यह पुस्तक हिन्दी-साहित्यमें अपने ढंगकी एक ही चीज है। इसमें विवाह-जैसे महत्वपूर्ण विषयका बड़ा ही मार्मिक और तात्त्विक विवेचन किया गया है। अनेक विरोधी विधि-विधानों एवं विचार-प्रवृत्तियों से उत्पन्न हुई विवाहकी कठिन और जटिल समस्याओंको बड़ी युक्तिके साथ दृष्टिके स्पष्टीकरण-द्वारा सुलझाया गया है और इस तरह उनमें दृष्टिविरोधका परिहार किया गया है। विवाह क्यों किया जाता है? धर्मसे, समाजसे और गृहस्थाश्रम-से उसका क्या सम्बन्ध है? वह कब किया जाना चाहिये? उसके लिये वर्ण और जातिका क्या नियम होसकता है? विवाह न करनेसे क्या कुछ हानि-लाभ होता है? इत्यादि बातोंका इस पुस्तकमें बड़ा ही युक्ति-पुरस्सर एवं हृदयग्राही वर्णन है। बढ़िया आर्ट पेपरपर छपी है। विवाहोंके अवसरपर वितरण करने योग्य है। मू० ॥)

प्रकाशन विभाग—

वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

—पं० परमानन्द जैन शास्त्री भारतीय ज्ञानपीठ काशीके लिये आशाराम खत्री द्वारा रॉयल प्रेस सहारनपुरमें मुद्रित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org